श्री अरविन्द कर्मधारा

जुलाई अगस्त

श्रीअरविन्द कर्मधारा
श्रीअरविन्द आश्रम
दिल्ली शाखा का मुखपत्र
(**जुलाई - अगस्त** - 2023)
अंक - 4
संस्थापक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर 'फकीर'
सम्पादन
अपर्णा रॉय
विशेष परामर्श-समिति
सुश्री तारा जौहर, विजया भारती
ऑनलाइन पब्लिकेशन ऑफ श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा
(निःशुल्क उपलब्ध)
कृपया सब्सक्राइब करें-
saakarmdhara@rediffmail.com
कार्यालय
श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली-शाखा
श्रीअरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016
दूरभाषः 26567863, 26524810
आश्रम वैबसाइट
(www.sriaurobindoashram.net)

अतिमानव

अतिमानव कौन है?
वह जो जड़-तत्व पर ही
के न्द्रित, सब से पृथक इस
मनोमय मानव-सत्ता से
ऊपर उठ सकता हो और
भागवत-शक्ति, भागवतप्रेम
और आनन्द तथा
भागवत-ज्ञान को प्राप्त
करके विराट् दिव्य पुरुष
बन सकता हो।
यदि तू इस सीमाबद्ध
मानुषी अहं को बनाये
रखे और फिर अपने को
अतिमानव समझे तो
अपने ही मिथ्याभिमान
का मूर्ख दास है, अपनी ही
व्यक्तिगत शक्ति के हाथों
का खिलौना है और अपनी
भूल-भ्रांतियों का यन्त्र है।

- श्रीअरविन्द

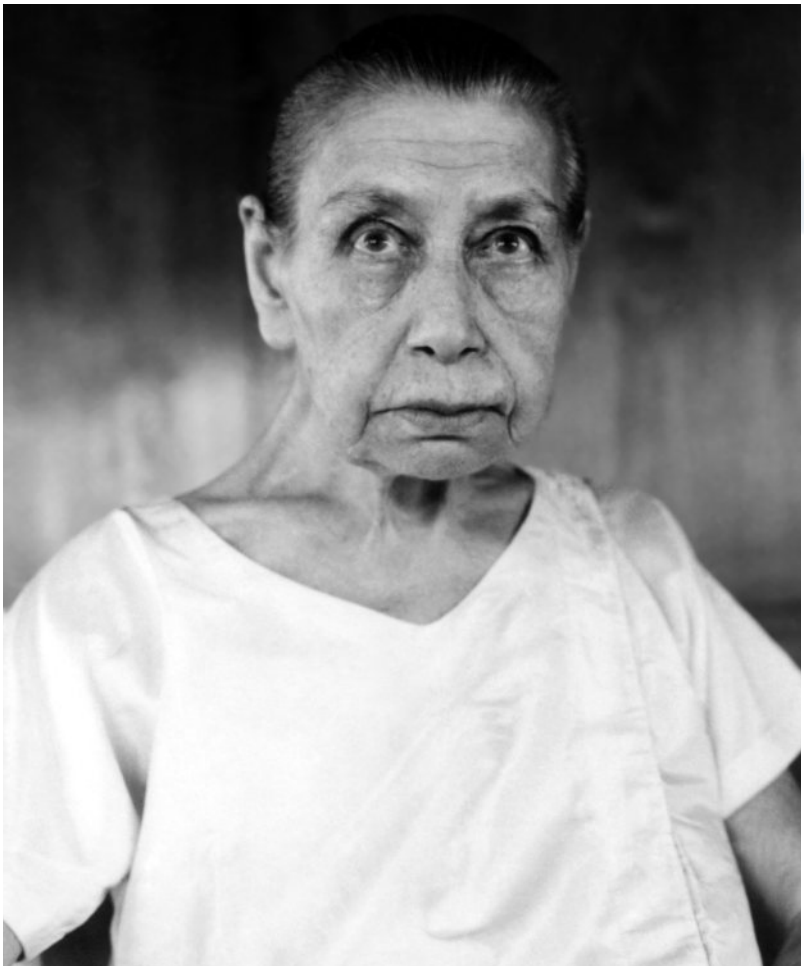

(प्रार्थना और ध्यान) यह सब कोलाहल किस लिये, यह दौड़-धूप, यह व्यर्थ की थोथी हलचल किस लिये? यह बवंडर किस लिये जो मनुष्यों को झंझावात में फँसे हुये मक्खियो के दल की भाँति उड़ाये ले जाता है? यह समस्त व्यर्थ में नष्ट हुई शक्ति, ये सब असफल प्रयत्न कितना शोकप्रद दृश्य उपस्थित करते हैं। लोग रस्सियो के सिरे पर कठपुतलियो की भाँति नाचना कब बन्द करेंगे? वह यह भी नही जानते कि कौन या क्या वस्तु उनकी रस्सियों को पकड़े उनको नचा रही है। उनको कब समय मिलेगा शांति से बैठकर अपने-आप में समाहित होने का, अपने-आपको एकाग्र करने का, उस आंतरिक द्वार को खोलने का जो तेरे अमूल्य खज़ाने, तेरे असीम वरदान पर परदा डाल रहा है?...

अज्ञान और अंधकार से भरा हुआ, मूढ़ हलचल तथा निरर्थक विक्षेपवाला उनका जीवन मुझे कितना कष्टप्रद और दीनहीन लगता है जबकि तेरे उत्कृष्ट प्रकाश की एक किरण, तेरे दिव्य प्रेम की एक बूँद इस कष्ट को आनन्द के सागर में परिवर्तित कर सकती है। हे प्रभु मेरी प्रार्थना तेरी ओर उन्मुख होती है, अगर ये लोग तेरी शान्ति तथा उस अचल और अदम्य शक्ति को जान लें जो अविचल धीरता से प्राप्त होती है। मगर यह धीरता के वल उन्हीं के हिस्से आती है जिनकी आँखें खुल गईं हैं और जो अपनी सत्ता के जाज्वल्यमान केन्द्र में तेरा चिन्तन करने योग्य बन गये हैं। परन्तु अब तेरी अभिव्यक्ति की घड़ी आ गयी है और शीघ्र ही आनन्द का स्तुति-गान सब दिशाओं से फूट पड़ेगा। इस घड़ी की गम्भीरता के आगे मैं भक्तिपूर्वक शीश नवाती हूँ।

-श्रीमाँ

सम्पादकीय

प्रिय पाठकों,

15 अगस्त 1972 को कलकत्ते में श्रीअरविन्द का जन्म हुआ और उसी तिथि यानि 15 अगस्त 1947 को ही हमारे देश की आजादी के लिए चुना गया मानो यह आजादी उनको जन्मदिन पर उपहार के रूप में दी गई हो। उस दिन श्री अरविंद ने स्वयं यह कहा कि यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है , यह तो मेरे संकल्प पर भगवान की स्वीकृति की मोहर है।

हर साल श्रीअरविंद के योग-पथ पर चलने वाले सभी अभीप्सुओं द्वारा उनका जन्मदिन सभी केंद्रों और श्री अरविंद आश्रम पांडिचेरी एवं दिल्ली शाखा में उत्साह पूर्वक मनाया जाता है। इस वर्ष इस समारोह का खास महत्व है। श्री अरविंद के जन्म की यह 151 वीं वर्षगांठ है और विगत वर्ष से सभी जानते हैं कि हम उनका 150 वाँ जन्मोत्सव एवं भारत की स्वतंत्रता का अमृत महोत्सव भी मना रहे हैं। यह कितना सुंदर संयोग है कि श्रीअरविंद के 75 वें जन्म-दिवस पर भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी और श्री अरविंद की 150 वीं वर्षगाँठ पर भारतीय स्वतंत्रता के 75 वर्ष पूरे हुए।

संसार का वर्तमान युग है महान रूपांतरणों की अवस्था का युग। मानवता के मन में एक नहीं बहुत से मूलभूत भाव क्रियाशील हैं । श्रीअरविन्द कहते हैं, "जागतिक अवस्थाओं को देखते हुए भौतिक विकास कोई गुनाह नहीं है, वह होना चाहिए, परंतु जहाँ वह मनुष्य की आत्मिक चेतना को नकारने लगता है, वहीं उसके दुष्परिणामों की काली छाया भी मानव जाति पर मंडराने लगती है। पाश्चात्य जगत की परेशान और उद्‌भ्रांत अवस्था मनुष्य की इस मान्यता को संदिग्ध रूप से प्रमाणित कर रही है जबकि उसकी भौतिकतावादी लहर अपने दुष्परिणामों के साथ विश्व भर में हावी है। लेकिन शायद इसीलिए एक बेचैनी एक कसमसाहट, भौतिक सुख-साधनों के बावजूद एक घुटन, मानव मन को किसी अज्ञात शाश्वत आश्रय की खोज की दिशा में ले चल रही है। निसंदेह अनंत का यह अनाहत संकेत शुभ है, शुभ का आश्वासन है, देखना सिर्फ यह है कि मानव जाति इस संकेत को कहां तक पकड़ पाती है अथवा कहां तक इस आश्वासन के योग्य स्वयं को बना पाती है।,

पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों संस्कृतियाँ या आज परस्पर अभिमुख हैं। पश्चिम पूरब की ओर भाग रहा है और पूरब पश्चिम की ओर। गिटार वीणा के संगीत पर मुग्ध है और वीणा गिटार के। यह बात नहीं कि भिन्न संस्कृतियों की ऐसी अभिमुखता भूतकाल में नहीं रही है पर आज की यह सांस्कृतिक अभिमुखता कुछ विशेष अर्थ लेकर आयी है और इस विशेष अर्थ को सार्थक करने का बड़ा उत्तरदायित्व भारत पर है।

19वीं सदी के दसवें दशक में स्वामी रामतीर्थ ने दो महत्वपूर्ण भविष्यवाणियां की थीं। पहली यह कि भारत बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में स्वतंत्र होगा और दूसरी यह कि उसी के उत्तरार्ध में वह अपनी पूर्व गरिमा को प्राप्त कर विश्व का आध्यात्मिक नेतृत्व करेगा। इतिहास साक्षी है कि उनकी पहली भविष्यवाणी अक्षरतः सत्य हुई और दूसरी होने जा रही है। इस आशा का आधार वही है जिसका संकेत ऊपर दिया जा चुका है यानी भौतिक उपलब्धियों के बावजूद संतृप्त और असंतुष्ट मानव जाति द्वारा किसी शाश्वत आश्रय की खोज । पाश्चात्य जगत में यह खोज आरंभ हो चुकी है। अपने आप से ऊबा हुआ पश्चिम अध्यात्म की दिव्य भूमि भारत की आत्मा की मूल संस्कृति को समझने और अपनाने का प्रयास कर रहा है। अध्यात्म के महापृष्ठों पर खींची उन लकीरों को पढ़ने की चेष्टा में लगा है जिनमें भावी विश्व की भाग्यलिपि निबद्ध है, उसको उसी प्रयास में सहयोग देने का उत्तरदायित्व हम पर है। हमें समझना चाहिए कि जिस भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण पश्चिम तंत्र है उसे किस सीमा तक हम अपना सकते हैं। हमारी अस्मिता अध्यात्म की है और उसी से जुड़ी है हमारी संस्कृति। मानव जीवन के मूलभूत आदर्शों और सिद्धांतों की आधारशिला पर खड़ी भारतीय संस्कृति आज भी समस्त विश्व को कल्याणकारी मार्ग पर आगे बढ़ाने में सक्षम है। भारत का अतीत महान और महत् रहा है।"

श्रीअरविंद के उपरोक्त शब्दों में भूतकाल के आदर्शों की महत्ता इस बात का आश्वासन देती है कि भविष्य के आदर्श और भी महान होंगे क्योंकि उन्हीं के शब्दों में अतीत प्रयास एवं शक्ति सामर्थ्य के पीछे जो कुछ निहित था उसका विस्तार ही किसी संस्कृति के जीवित होने का एकमात्र स्थाई प्रमाण होता है ।

श्री अरविंद के उपरोक्त शब्द हमारे अंदर अपने देश ही नहीं बल्कि संपूर्ण मानवता के प्रति भारत के दायित्व को स्पष्ट करते हुए उसमें हमारे योगदान की जागरुकता भरते हैं। श्री अरविंद के जन्मोत्सव का एक वर्ष बीतने पर हमें अपने प्रयास और उत्साह को रोकना नहीं है बल्कि उसे निरंतर गतिशील रखना है, उसके लिए एकजुट होकर सामूहिक रूप से परस्पर प्रयासरत रहना है। आज हमें इसी प्रतिज्ञा की आवश्यकता है। पत्रिका का नया अंक आपके सामने प्रस्तुत करते हुए, हम सब अपने इस कर्तव्य बोध के प्रति जागरूक और प्रयासरत रहें, इसी शुभेच्छा के साथ,

- अपर्णा

विषय-सूची

- कौन 6
- गीता का सारमर्म 8
- जिन्दगी की कहानी 11
- ध्यान 13
- नव ज्योति चक्र 19
- फ़क़ीर का आलम 23
- मौलिक विचारों की आवश्यकता 25
- योग की प्रणालियाँ 28
- व्यवसाय और अन्तःकरण के बीच संघर्ष 36
- श्रीअरविन्द – एक अंतर्यात्रा 38
- आश्रम-गतिविधियाँ 47

कौन

- संकलन

नीले विस्तृत आसमान में और हरे जंगल में,
किसका है वह हाथ कि जिसने रँगा सुमंगल रंग में?
सोये थे जब व्योम गर्भ में बेसुध वायु अचल हो,
किसने उन्हें जगाया औ' आदेश दिया चलने को?
महाप्रकृति के गहर में वह, हृदय कक्ष में तन्मय,
मनुजपुत्र के मानस में चिन्ताएं रचता मधुमय;
फूलों के रंगीले चित्रण में डूबा रहता है,
तारों के प्रकाशमय जालों में बँधकर चलता है।
बलशाली मानव शरीर में, सुंदर नारी तन, में
बालक की वह मधुर हँसी में बाला की लज्जा में;
हाथ वृहस्पति तारे की जिसने आकाश घुमाया,
कला दिखाने नारी के वह केशपाश में आया।
ये हैं उसके काम, उसी के पर्दे, उसकी छाया;
पर वह स्वयं कहां वहां है? क्या है नाम, है कैसी काया?
पर वह ब्रह्मा वा विष्णु है? क्या है वह नर वा नारी
है सदेह वह, देहरहित वह? एक द्विधा व्यापारी?
हमें प्यार उस बालक से है, जो काला चमकीला,
है वह नारी हमें चलाती जो नंगी बलशीला।
ऊँचा शिखर तुषार शैल पर हमने उसे लखा है,
तारा मंडल बीच कर्मरत भी उसको देखा है।
उसकी गति-विधियों का लेखा जग को सभी सुना दूँगा,
दुःख उसका आह्लाद भावभावना सभी बतला दूँगा।
हमें रुलाकर वह हँसता है, हमको दुःखकातर करता,
फिर अपने आनन्द और सुषमा से है सब दुःख हरता।
नाद-गीत दुनिया में उसकी हँसी सुनायी देती है,
उसका ही आनन्द मधुर तन्मय सुन्दरता होती है।
उसकी धड़कन विश्वप्राण, उसका उल्लास सुखद परिणय,
राधा और कृष्ण का फिर है, प्रेम एक चुम्बन अभिनय।
बलपौरुष उसका रणभेरी में हम सुनते रहते,

रथी वही रथ में उसकी बर्छी से हैं आहत होते।
है वह निर्मम घातक अथवा दयावान है वह मधुमय,
है उसका ही युद्ध जगत-हित, सबके मंगल में तन्मय।
जग के प्रसारित युगवितान में, और काल की धारा में,
वह अमेय, बलपुञ्ज, अनाविल महिमामय है अपने में
जो दर्शन के उच्च शिखर से ऊपर रहता आया है,
वही राजगद्दी पर बैठा सदा सर्वदा आया है।
वह मानव का अविचल स्वामी, उसका अविचल वह प्रेमी,
वही सभी का सृहद-मित्र हम स्वच्छ नयन से देखें भी।
हम सब तो हैं मानमत्त आवेगों में डूबे भूले,
निज विचार में बँधे, समझकर हम स्वतंत्र रहते फूले।
जरा-मरण से मुक्त वही उद्दीप्त सूर्य में तपता है,
मध्यरात्रि की काली छाया में भी फैला रहता है।
जब डूबा था अंधकार में अन्धा तम भी होकर बंद,
वह विराट् था वहां समाया ध्यानमग्न होकर निस्पंद।

"जब तक तुम कड़ी मेहनत नही करते तब तक तुम्हें शक्ति नहीं मिलती,क्योंकि तब तुम्हें उसकी जरूरत नही होती और तुम उसके अधिकारी नहीं होते। शक्ति तुम्हें तभी मिलती है जब तुम उसका उपयोग करते हो।"

- श्रीमाँ

गीता का सारमर्म

- संकलन

गीता को लिखे गए तो सुदीर्घ काल व्यतीत हो चुका है और इस बीच मनुष्य की विचारधारा एवं अनुभूति में विपुल परिवर्तन आ गया है। तब फिर आज के मानव-मन के लिए गीता का संदेश क्या है, इसका क्रियात्मक महत्व एवं आध्यात्मिक उपयोगिता क्या है? मानव-मन सदा आगे की ही ओर बढ़ता। अपने दृष्टिकोण को बदलता तथा अपने विचार के विषयों को विस्तृत करता है, और इन परिवर्तनों का परिणाम यह होता है कि चिंतन की पुरातन प्रणालियां विलुप्त हो जाती हैं अथवा जब उन्हें सुरक्षित रखा भी जाता है तब भी उन्हें विस्तृत और संशोधित कर दिया जाता है तथा सूक्ष्म या प्रत्यक्ष रूप में उनका मूल्य बदल दिया जाता है। कोई प्राचीन सिद्धांत उसी हद तक सजीव होता है जिस हद तक वह ऐसे परिवर्तन के लिए स्वाभाविक रूप से अपने आपको सौंप देता है, क्योंकि उसका मतलब यह होता है कि उसके विचार के रूप की सीमाएं या अव्यवहार्यताएं कोई भी क्यों न रही हों, फिर भी सारतत्व का जो सत्य, जीवंत दृष्टि एवं अनुभूति का जो सत्य उसकी पद्धति का आधार था वह अब तक भी अक्षुण्ण है और एक स्थायी सत्यता एवं सार्थकता रखता है। गीता एक ऐसी पुस्तक है जो असाधारणतया दीर्घ काल से जीवित चली आ रही है और यह आज भी प्रायः उतनी ही ताजी है और अपने वास्तविक सार तत्व में अभी भी बिल्कुल उतनी ही नयी है जितनी कि यह तब थी जब यह पहले-पहले महाभारत में प्रकाशित हुई थी या उसके ढांचे के अंदर प्रक्षिप्त की गयी थी। इसके इस प्रकार ताजी होने का कारण यह है कि इसे अनुभव में सदैव फिर-फिर ताजा किया जा सकता है। भारत में अभी तक भी इसका इस रूप में आदर किया जाता है कि यह उन महान शास्त्रों में से एक है जो अत्यंत प्रामाणिक रूप में धार्मिक चिंतन को नियंत्रित करते हैं और इसकी शिक्षा को भी परम मूल्यवान माना जाता है भले ही उसे धार्मिक मत-विश्वास के लगभग सभी संप्रदाय पूर्ण रूप से स्वीकार न भी करते हों। इसका प्रभाव केवल दर्शन या विद्याध्ययन के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष और जीवंत भी है, चिंतन और कर्म दोनों पर इसका प्रभाव देखने में आता है और सचमुच ही इसके विचार एक जाति और संस्कृति के पुनरुज्जीवन एवं नव जागरण में एक प्रबल निर्माणकारी शक्ति के रूप में कार्य कर रहे हैं। हाल ही में एक प्रभावशाली व्यक्ति ने यहां तक कह डाला है कि आध्यात्मिक जीवन के लिए हमें जिन किन्ही भी आध्यात्मिक सत्यों की जरूरत है वे सभी गीता में उपलब्ध हो सकते हैं। इस उक्ति को अत्यन्त शाब्दिक अर्थ में लेने से इस ग्रंथ के विषय में अंध-विश्वास को प्रोत्साहन मिलेगा। आत्मा का सत्य असीम है और उसे इस प्रकार से किसी परिधि के अंदर बंद नहीं किया जा सकता। तथापि यह कहा जा सकता है कि अधिकतर प्रधान सूत्र इसमें विद्यमान है और आध्यात्मिक अनुभूति एवं उपलब्धि के समस्त परवर्ती विकास के होते हुए भी हम एक विशाल अनुप्रेरणा एवं मार्गदर्शन के लिए इसकी ओर मुड सकते हैं। भारत के बाहर भी इसे सर्वत्र विश्व का एक अन्यतम महान धर्मग्रंथ स्वीकार किया जाता है, यद्यपि यूरोप में इसके अध्यात्म साधना संबंधी रहस्य की अपेक्षा इसकी विचारधारा को अधिक अच्छे रूप में हृदयंगम किया गया है। तो भला वह कौनसी चीज है जो गीता के विचार और सत्य को यह प्राणशक्ति प्रदान करती है?

गीता के दर्शन तथा योग का केंद्रीय ध्येय है आन्तर आध्यात्मिक सत्य की पूर्णतम एवं समग्रतम उपलब्धि के साथ मनुष्य के जीवन एवं कर्म की बाह्य यथार्थताओं का सामंजस्य साधित करना, यहां तक कि एक प्रकार का ऐक्य स्थापित करना। गीता के अंदर अथ से इति तक यही विचार ओत-प्रोत है। वैसे इन दोनों में समझौता करने की प्रथा तो काफी प्रचलित है पर समझौता अंतिम एवं संतोषजनक समाधान कदापि नहीं हो सकता। आध्यात्मिकता को नैतिक रूप देने की प्रथा का भी अत्यधिक प्रचलन देखा जाता है और सदाचार के एक विधान की दृष्टि से उसका महत्व भी है, पर वह एक मानसिक समाधान है, उससे जीवन के समस्त सत्य के साथ आत्मा के समस्त सत्य की पूर्ण क्रियात्मक सुसंगति साधित नहीं होती, और साथ ही वह जितनी समस्याएं हल करता है उतनी ही और पैदा कर देता है। निःसंदेह उन्हीं में से एक समस्या गीता का प्रारंभ सूत्र है, गीता का सूत्रपात एक संघर्षजनित नैतिक समस्या से हुआ है। हम देखते हैं कि उस संघर्ष में एक और तो है कर्मी पुरुष का धर्म, राजपुत्र, वीर एवं जन नेता का धर्म, महासंकट एवं संग्राम के मुख्य नायक का धर्म, भौतिक क्षेत्र में, वास्तविक जीवन के क्षेत्र में धर्म तथा न्याय की शक्तियों और अधर्म तथा अन्याय की शक्तियों के पारस्परिक संग्राम के प्रधान नायक का धर्म, इस धर्म की दृष्टि से जाति की भवितव्यता की उस नेता से यह मांग है कि वह अवश्यमेव प्रतिरोध करे, शत्रु पर आक्रमण करे और सत्य, धर्म एवं न्याय का नवीन युग और राज्य स्थापित करे, भले ही उसे इसके लिए कैसा भी भीषण स्थूल संग्राम एवं घोर संहार क्यों न करना पड़े, परंतु इसके दूसरी ओर है नैतिक बुद्धि जो इस उपाय तथा कर्म को पाप कहकर दूषित ठहराती है, वैयक्तिक क्लेश, सामाजिक कलह, अव्यवस्था एवं उपद्रवरूपी मूल्य चुकाने से पीछे हटती है और ऐसा समझती है कि हिंसा तथा युद्ध से उपरति ही एकमात्र मार्ग है तथा यही शुद्ध नैतिक वृत्ति है। अध्यात्मभावापन्न नीतिशास्त्र आध्यात्मिक आचार के सर्वोच्च नियम के रूप में अहिंसा पर किसी को पीड़ा न पहुंचाने एवं किसी की हत्या न करने पर ही बल देता है। वह कहता है कि यदि युद्ध करना भी पड़े तो वह आध्यात्मिक स्तर पर तथा एक प्रकार के अप्रतिरोध के द्वारा या उसमें भाग लेने से इंकार करके या केवल आत्मिक प्रतिरोध के द्वारा ही करना चाहिए और चाहे वह वाह्य क्षेत्र में सफल न भी हो, चाहे अन्याय की शक्ति जीत भी जाय, पर व्यक्ति तो अपने धर्म की रक्षा कर सकेगा और अपने दृष्टांत से सर्वोच्च आदर्श को सच्चा सिद्ध कर देगा। इसके विपरीत आभ्यंतरिक अध्यात्म-पथ, जो अधिक आग्रहपूर्ण छोर को पकड़े हुए हैं, सामाजिक कर्तव्य तथा नरम नैतिक आदर्श के इस संघर्ष को पार करके वैराग्य की ओर झुक सकता है और जीवन तथा इसके सब लक्ष्यों एवं कर्म सबंधी आदर्शों से परे एक अन्य तथा दिव्य या विश्वातीत अवस्था की ओर अंगुलि-निर्देश कर सकता है, कारण केवल उसी अवस्था में मनुष्य जन्म, जीवन और मरण की जटिल निःसारता तथा भ्रम से अतीत विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन संभव है। गीता इन समाधानों में से प्रत्येक को उसके अपने स्थान पर स्वीकार करती है, क्योंकि वह आग्रह करती है कि जिस मनुष्य को सार्वजनीन कर्म में भाग लेना है उसे सामाजिक कर्तव्य का अनुष्ठान एवं धर्म का अनुसरण करना ही होगा, वह अहिंसा को सर्वोच्च अध्यात्म- नैतिक आदर्श के अंग के रूप में और वैराग्यपूर्ण त्याग को आध्यात्कि मुक्ति के मार्ग के रूप मे स्वीकार करती है। तथापि वह निर्भय होकर इन सब विरोधी स्थितियों के परे भी जाती है। वह महान साहस के साथ आत्मा के समक्ष समस्त जीवन को इस रूप में सत्य सिद्ध करती है कि यह एकमेव पुरुषोत्तम भगवान् की एक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है, साथ ही, जो पूर्ण आध्यात्मिक

जीवन अनन्त के सायुज्य में बिताया जाता है और परम आत्मा के साथ समस्वर तथा परिपूर्ण देवाधिदेव का प्रकाशक होता है उसमें तथा संपूर्ण मानवीय कर्म में वह सामंजस्य की प्रस्थापना करती है। मानव जीवन की सभी समस्याओं का मूल कारण यह है कि हमारी सत्ता एक जटिल वस्तु है, उसका मूल तत्त्व दुर्योध है और जो अंतरतम शक्ति उसके सब रूपों का निर्धारण करती है तथा उसके उद्देश्य एवं प्रक्रियाओं का नियमन करती है वह एक गुह्य शक्ति है। यदि हमारी सत्ता एक अखंड वस्तु होती, केवल भौतिक-प्राणिक या केवल मानसिक शक्ति या केवल आध्यात्मिक तत्त्व होती, अथवा यदि इतना ही होता कि अन्य तत्व उनमें से किसी एक ही में पूर्णतः या प्रधानतः अंतर्भूत होते या हमारे अवचेतन या अति-चेतन भागों में सर्वथा प्रसुप्त पड़े होते, तो इसमें कुछ भी परेशानी की बात न होती, तब भौतिक एवं प्राणिक नियम अपरिहार्य होता अथवा मानसिक नियम अपने शुद्ध एवं निर्बाध तत्व के प्रति सुस्पष्ट होता या आध्यात्मिक नियम आत्मा के लिए स्वयं स्थित एवं स्वत: पर्याप्त होता। पशुओं को समस्याओं का कुछ भी ज्ञान नहीं, शुद्ध मानसिकता के लोक में रहनेवाला एक मानसिक देवता किसी भी समस्या को अपने यहाँ प्रवेश नहीं करने देगा या फिर वह किसी मानसिक नियम की विशुद्धता या बौद्धिक सामंजस्य की संतुष्टि के द्वारा उन सबका समाधान कर लेगा; शुद्ध आत्मा इन सबसे ऊपर तथा अनंत के अंदर स्वयंतृप्त होगा। परंतु मनुष्य की सत्ता एक त्रिविध जाल है, एक ऐसी चीज है जो एक ही साथ गुह्य रूप से भौतिक-प्राणिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक है और मनुष्य नहीं जानता कि इन चीजों के वास्तविक संबंध क्या हैं, उसके जीवन तथा उसकी प्रकृति का वास्तविक सत्य कौन-सा है, उसके भाग्य का आकर्षण किस ओर है और उसकी पूर्णता का क्षेत्र कहां है।

जड़तत्त्व एवं प्राण उसका वास्तविक आधार हैं, इसी से वह यात्रा आरंभ करता है और इसी के सहारे स्थित रहता है और यदि वह इस भूतल पर तथा इस देह में जीवित रहना चाहता है तो उसे इस आधार की आवश्यकता को पूरा करना होगा, इसके विधान का पालन करना होगा। जड़ और प्राण का विधान है उत्तर-जीवन का नियम, संघर्ष का तथा कामना और स्वत्व का नियम, शरीर, प्राण और अहंभाव की स्व-प्रतिष्ठा एवं तृप्ति का नियम जगत का समस्त बौद्धिक तर्क-वितर्क, समस्त नैतिक आदर्शवाद तथा आध्यात्मिक निरपेक्षतावाद, जो मनष्य की उच्चतर क्षमताओं की पहुंच के भीतर है, हमारे प्राणिक एवं भौतिक आधार की सत्यता और मांग को निर्मूल नहीं कर सकते, न वे मानव-जाति को प्रकृति की अलंघ्य प्रेरणा के वश इसके उद्देश्यों का तथा इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का अनुसरण करने से रोक सकते हैं, और न वे उसे इसकी आवश्यक समस्याओं को मानव- भवितव्यता, मानवहित एवं प्रयास का एक महान एवं उपयुक्त भाग बनाने से ही मना कर सकते हैं। यहां तक कि आध्यात्मिक या आदर्श समाधान और प्रत्येक बात का तो हल कर देते हैं पर मानव के यथार्थ जीवन की अपरिहार्य समस्याओं का हल नहीं कर पाते, अतएव मनुष्य की बुद्धि उनमें कोई तृष्ति न पाकर प्राय: ही उनसे विमुख हो जाती है और अनन्यभाव से प्राण एवं देह के जीवन को ही अंगीकार करती है और युक्तिपूर्वक या सहजान प्रेरणा के वश इसी की अधिकतम संभव क्षमता, स्वस्ति और सुव्यवस्थित तृप्ति का अनुसरण करती है। जीवनेच्छा का सिद्धांत या प्राण एवं देह की बुद्धि- समन्वित पूर्णता की शक्ति प्राप्त करने का सिद्धांत मानव जाति का एक माना हुआ धर्म बन जाता है और अन्य सब चीजों को या तो दंभपूर्ण असत्य समझा जाता है या एक सर्वथा गौण वस्तु किंवा स्वल्पतर एवं सापेक्ष महत्व रखने वाला एक अवांतर विषय।

जिन्दगी की कहानी

- संकलन

टॉल्सटॉय की प्रसिद्ध कहानी है कि एक आदमी के घर एक सन्यासी मेहमान आया, एक परिव्राजक। रात गपशप होने लगी, उस परिव्राजक ने कहा कि तुम यहाँ क्या छोटी-मोटी खेती में लगे हो। साइबेरिया में मैं यात्रा में था तो वहाँ जमीन इतनी सस्ती है, मुफ्त ही मिलती है। तुम यह जमीन छोड़छाड़ कर , बेच-बाचकर साइबेरिया चले जाओ। वहाँ हजारों एकड़ जमीन मिल जाएगी इतनी जमीन में। वहाँ करो फसले और बड़ी उपयोगी जमीन है और लोग वहाँ के इतने सीधे साधे है कि करीब-करीब मुफ्त ही जमीन दे देते हैं।

उस आदमी को वासना जगी उसने दूसरे दिन ही सब बेच-बाचकर साइबेरिया की राह पकड़ी। जब पहुँचा तो उसे बात ,सच्ची मालूम पड़ी। उसने पूछा कि मैं जमीन खरीदना चाहता हूँ।

उन्होंने कहा, जमीन खरीदने का तुम जितना पैसा लाए हो, रख दो; और हमारे पास यही उपाय है बेचने का कि कल सुबह सूरज के ऊगते तुम निकल पड़ना और साँझ सूरज के डूबते तक जितनी जमीन तुम घेर सको घेर लेना । बस चलते जाना जितनी जमीन तुम घेर लो साँझ सूरज के डूबते-डूबते उसी जगह पर लौट आना जहाँ से चले थे - बस यही शर्त है। जितनी जमीन तुम चल लोगे, उतनी जमीन तुम्हारी हो जाएगी।

रात-भर तो न सका वह आदमी । तुम भी होते तो न सो सकते; ऐसे क्षणों में कोई सोता है? रातभर योजनाएँ बनाता रहा कि कितनी जमीन घेर लूँ। सुबह ही भागा। गाँव इकट्ठा हो गया था। सुबह का सूरज ऊगा, वह भागा। उसने अपने साथ रोटी भी ले ली थी पानी का भी इंतजाम कर लिया था। रास्ते में भूख लगे, प्यास लगे तो सोचा था चलते-चलते खाना भी खा लूंगा., पानी भी पी लूँगा। रूकना नहीं है चलना क्या है; दौड़ना शुरू किया, क्योंकि चलने से तो आधी ही जमीन कर पाऊँगा, दौड़ने से दुगनी हो सकेगी- भागा...भागा।

सोचा था कि ठीक बारह बजे लौट पड़ूँगा; ताकि सूरज डूबते-डूबते पहुँच जाऊँ। बारह बज गए, मीलों चल चुका है, मगर वासना का कोई अंत है? उसने सोचा कि बारह तो बज गए, लौटना चाहिए; लेकिन सामने और उपजाऊ जमीन, और उपजाऊ जमीन... थोड़ी सी और घेर लूँ। जरा तेजी से दौड़ना पड़ेगा लौटते समय-इतनी ही बात है, एक ही दिन की तो बात है, और जरा तेजी से दौड़ लूँगा। उसने पानी भी न पीया; क्योकि रूकना पड़ेगा उतनी देर, एक दिन की ही तो बात है, फिर कल पी लेंगे पानी, फिर जीवन भर पीते रहेंगे। उस दिन उसने खाना भी न खाया। रास्ते में उसने खाना भी फेंक दिया, पानी भी फेंक दिया, क्योकि उनका वजन भी ढोना पड़ा रहा है, इसलिए दौड़ ठीक से नहीं पा रहा है। उसने अपना कोट भी उतार दिया, अपनी टोपी भी उतार दी, जितना निर्भार हो सकता था हो गया।

एक बज गया, लेकिन लौटने का मन नहीं होता, क्योकि आगे और-और सुन्दर भूमि आती चली जाती है। मगर फिर लौटना ही पड़ा; दो बजे तक वो लौटा। अब घबड़ाया। सारी ताकत लगाई; लेकिन ताकत

तो चुकने के करीब आ गई थी। सुबह से दौड़ रहा था, हाँफ रहा था, घबरा रहा था कि पहुँच पाऊँगा सूरज डूबते तक कि नहीं। सारी ताकत लगा दी पागल होकर दौड़ा सब दांव पर लगा दिया और सूरज डूबने लगा। ज्यादा दूरी भी नहीं रह गई है। लोग दिखाई देने लगे, गाँव के लोग खड़े हैं और आवाज दे रहे हैं कि आ जाओ, आ जाओ उत्साह दे रहे हैं। भागे आओ अजीब सीधे साधे लोग है। सोचने लगा मन में इनको तो सोचना चाहिए कि में मरी जाओ तो इनको धन भी मिल जाए और जमीन भी न जाए मगर वे बड़ा उत्साह दे रहे है कि भागे आओ।

उसने आखिर दम लगा दी-भाग-भाग...। सूरज डूबने लगा; इधर सूरज डूब रहा है, उधर वो भाग रहा है...। सूरज डूबते-डूबते बस जाकर गिर पड़ा। कुछ पाँच-सात गज की दूरी रह गई है, घिसटने लगा।

अभी सूरज की आखिर कोर क्षितिज पर रह गई घिसटने लगा। और जब उसका हाथ उस जमीन के टुकड़े पर पहुँचा, जहाँ से भागा था, उस खूँटी पर, सूरज डूब गया। वहाँ सूरज डूबा, यहाँ यह आदमी भी मर गया। इतनी मेहनत कर ली। शायद हृदय का दौरा पड़ गया। सारे गाँव के सीधे-सादे लोग जिनको वह समझता था, हँसने लगे और एक दूसरे से बात करने लगे।

ये पागल आदमी आते ही जाते हैं इस तरह के पागल लोग आते ही रहते हैं। यह कोई नई घटना न थी अक्सर लोग आ जाते थे खबरें सुनकर, और इसी तरह मरते थे। यह कोई अपवाद नहीं था यही नियम था, जो घेरकर जमीन का मालिक बन पाया हो।

यह कहानी तुम्हारी कहानी है, तुम्हारे जिंदगी की कहानी है , सबकी जिदंगी की कहानी है। यही तो तुम कर रहे हो दौड़ रहे हो कि कितनी जमीन घेर ले बारह भी बज जाते है, दोपहर भी आ जाती है, लौटने की भी समय होने लगता है मगर थोड़ा और दौड़ ले न भूख की फिक्र है, न प्यास की फिक्र है।

जीने का समय कहाँ है पहले जमीन घेर लें, पहले तिजोरी भर लें, पहले बैंक में रूपया इकट्ठा हो जाए, फिर जी लेंगे, एक ही दिन का तो मामला है। और कभी कोई नहीं जी पाता। गरीब मर जाते हैं भूखे, अमीर मर जाते है भूखे, कभी कोई नहीं पाता। जीने के लिए थोड़ी समझ चाहिए। जीवन मुफ्त नहीं मिलता।

सदा ऐसे व्यवहार करो जैसे श्रीमाँ तुम्हें देख रही हैं, क्योंकि सचमुच ही वे सदा ही विद्यमान हैं। श्रीमाँ की जागतिक विद्यमानता सर्वदेशीय सार्वकालिक सर्वसमर्थ है। श्रीमाँ की सीमित सूक्ष्म भौतिकीय विद्यमानता भी इससे भिन्न-विलग नहीं है।

-श्रीअरविंद

ध्यान

- संकलन

सामान्यतः साधना में व्यक्ति को गुरु या भगवान के प्रति उत्तरोत्तर आंतरिक आत्मसमर्पण और इसके आधार पर बाह्य समर्पण भी करना पड़ता है। ध्यान, एकाग्रता, कर्म, सेवा, यह सब अपनी सभी गतिविधियों में आत्म-संचयन के लिए साधन हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य होता है एक उच्चत्तर शक्ति के हाथों में उन पर क्रिया करने तथा लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए अपने आप को दे देना।

प्रश्न उठता हैं ध्यान किसे कहते हैं? आंखें बंद करने तथा एकाग्र होने को?

श्री अरविन्द कहते हैं- यह तो सत्य चेतना के आवाहन की केवल एक विधि है। एकमात्र महत्वपूर्ण वस्तु है, सत्य चेतना से संयुक्त होना या इसके अवतरण को अनुभव करना। यदि यह परंपरागत विधि के बिना आ जाता है, जैसा कि मेरे साथ हमेशा ही हुआ है, तब यह अधिक अच्छा है। ध्यान केवल एक साधन या यंत्र है। सच्ची गति है, चलते, कार्य करते या बातचीत करते समय भी व्यक्ति की साधना चलती रहे। सर्वोत्तम ध्यान उसे कहते हैं जो सहज-स्वाभाविक रूप में होता है।

ध्यान के समय को अभीप्सा आत्मनिरीक्षण तथा उन सब के त्याग द्वारा जो प्रकृति को शुद्ध करते या कष्ट देते तथा अशुद्ध करते हैं हमें अपने अंदर इन्हीं दो शर्तों की रचना में लगाना चाहिए अभीप्सा यदि उचित विधि से की जाए फिर भाव से गंभीरता और सच्चाई के साथ की जाए तब यह इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ऊपर से भागवत सहायता ले आती है।

भारतीय शब्द 'ध्यान' को व्यक्त करने के लिए अंग्रेजी में दो शब्दों का व्यवहार किया जाता है : मेडिटेशन तथा कंटेंप्लेशन। जब हम अपने मन को किसी एक ही विषय या विचारधारा पर एकाग्र करते हैं तो उसे ही वास्तव में मेडिटेशन कहते हैं। जबकि कंटेंपलेशन का अर्थ है किसी एक ही विषय, मूर्ति, भावना आदि पर मन की दृष्टि लगा देना जिससे एकाग्रता की सहायता से मन में स्वभाविक रूप से उस विषय, मूर्ति या भावना का ज्ञान उदित हो जाये। वस्तुतः ध्यान का सिद्धांत मानसिक एकाग्रता है, चाहे वह चिंतन में हो या अंतर्दृष्टि में या ज्ञान में।

ध्यान के अन्य रूप भी हैं। अपने एक लेख में विवेकानंद कहते हैं कि तुम अपने विचारों से पीछे हट जाओ, उन्हें अपने मन में जैसे वे आयें, आने दो और महज उनका निरीक्षण करो तथा देखो कि वे क्या हैं। इसे आत्मनिरीक्षणात्मक एकाग्रता कह सकते हैं।

यह क्रिया एक अन्य क्रिया की ओर ले जाती है। हम अपने मन को सभी विचारों से निकाल कर उसे शुद्ध सजग और रिक्त बनाकर छोड़ देते हैं। ताकि उसमें दिव्य ज्ञान प्रकट हो सके। सामान्य मानव मन के निम्न विचार उसे क्षुब्ध न कर सकें। गीता इस प्रकार समस्त मानसिक विचारों के इस त्याग को योग की एक पद्धति कहती है। इसे हम मुक्तिदायक ध्यान कह सकते हैं क्योंकि इस ध्यान से चिंतन की यांत्रिक प्रक्रिया की दासता से मन मुक्त हो जाता है, मन को यह स्वतंत्रता मिल जाती है कि वह जब चाहे सोचे या न सोचे

या अपने विचारों का चयन स्वयं करें, या विचारों से परे सत्य के प्रत्यक्ष बोध तक चला जाए जिसे हमारे दर्शन में विज्ञान कहा जाता है। मेडिटेशन मानव मन के लिए सबसे सुगम तरीका है किंतु अपने परिणामों में अत्यन्त परिमित है। कंटेंप्लेशन अधिक कठिन है किंतु परिणाम दृष्टि से अधिक सक्षम हैं। आत्म निरीक्षण की पद्धति तथा विचारों की श्रृंखला से मुक्ति-ये दोनों अधिक कठिन हैं परंतु अपने परिणामों में विशालतम और महानतम हैं। व्यक्ति अपने मानसिक रुझान तथा सामर्थ्य के अनुसार किसी एक का चयन कर सकता है पूर्ण पद्धति हैं इन सबका उपयोग करना। परंतु इसके लिए आवश्यकता होगी एक अटल श्रद्धा तथा सुदृढ़ धैर्य की तथा योग के अभ्यास में वृहद संकल्प- शक्ति की।

ध्यान की पद्धति का चुनाव

..... कठिनाई यह है कि विभिन्न लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से ध्यान करने की बात कहते हैं और उनमें ऊपर से देखने में एक विरोध-सा दिखायी देता है। कभी तो यह कहा जाता है कि ध्यान करते समय किसी एक ही विषय पर केन्द्रीभूत होकर लगातार चिंतन करते रहना चाहिये, कभी यह कहा जाता है कि किसी एक ही मूर्ति, शब्द या भावना पर मन को ऐकांतिक भाव से एकाग्र कर देना चाहिये, जो ध्यान की अपेक्षा कहीं अधिक स्थिर मनोनिवेश (निदिध्यासन) होता है। इनके अलावा भी अन्य पद्धतियां हैं और इन दोनों में से या दूसरी अन्य पद्धतियों में से किसी एक का चुनाव इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपने दृष्टिकोण में योग का उद्देश्य क्या मानते हैं।

अभी हम लोगों के पास चिंतनशील मन ही एक ऐसा साधन है जिससे हम अपनी आन्तरिक सत्ता को जान-बूझकर सुसंगठित कर सकते हैं। परन्तु अधिकांश मनुष्यों में भावनाओं, इन्द्रिय बोधों और संस्कारों की एक मिश्रित धारा बहती रहती है और इसे ही वे अपना चिंतन समझते हैं और तात्कालिक उद्देश्यों और उपयोगों के वेग के दबाव के अधीन ये भावनाएं, बोध और संकल्प अपने-आपको व्यवस्थित करते हैं।

विचारों को एकाग्र करने का अभ्यास राजयोगी करते हैं और उसके द्वारा अपने मन की क्रियाओं से स्वतंत्र होने और उनको अपने वश में करने की चेष्टा करते हैं, जिस तरह कि हठयोगी अपने श्वास-प्रश्वास को संयमित करने तथा अपने आसनों को सिद्ध करने की प्रक्रिया का अभ्यास करते हैं और उसके द्वारा शरीर और प्राण की क्रियाओं से मुक्त होते तथा उनको अपने वश में करते हैं।

ध्यान के द्वारा हम अपने मन की चंचल गति को सुधारते हैं और उसको अपनी सभी शक्तियों का संतुलित उपयोग करना तथा किसी अभीप्सित ज्ञान अथवा आत्म-संयम की प्राप्ति के लिए उन्हें प्रयुक्त करना सिखाते हैं। इस पद्धति का उपयोग साधारणतया मनुष्य अपने भौतिक जीवन में करता हैं। परन्तु योग साधना में हम प्रकृति की इस ऊंची क्रिया को अपनाकर इसे इसकी पूरा सम्भावनाओं तक उन्नत करते हैं। योगी इस बात को जानता है कि हम अपने विचार को किसी एक विषय पर ज्ञानपूर्वक जमाकर सामान्य दिव्य चेतना में एक प्रत्युत्तर जगा देते हैं जो मन में उस विषय का ज्ञान उंडेलकर मन को सन्तुष्ट और उद्घाटित कर देता है। हम साथ ही दिव्य शक्ति का भी एक प्रत्युत्तर जागृत करते हैं जो हमें नाना प्रकार से उस वस्तु की क्रियाओं पर अधिकाधिक अधिकार प्रदान करता है जिस पर हम ध्यान करते हैं, इस तरह भागवत प्रेम की भावना पर अपने मन को जमाकर हम उस प्रेमतत्त्व और उसकी क्रियाओं का ज्ञान पा सकते हैं, उसके

साथ अपना सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं, अपने अन्दर उसे पैदा कर सकते हैं तथा अपने हृदय एवं इन्द्रियों पर उसके नियम को लागू कर सकते हैं।

योग में एकाग्रता का अभ्यास एक दूसरे उद्देश्य से भी किया जाता है, - वह है, अपनी जाग्रत अवस्था से,जो कि हमारी चेतना की एक सीमित और बाहरी अवस्था है, अपनी सत्ता की गहरायों में वापस लौट जाना, जहां मनुष्य समाधि की अनेक अवस्थाओं में से गुजरता है। इस प्रक्रिया के लिए किसी एक विषय, विचार या नाम पर मनोनिवेश करना एकाग्रता के साथ निरंतर चिंतन करते रहने की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली सिद्धि होता है। परन्तु एकाग्रता के साथ निरन्तर चिन्तन करते रहने से हमारा सम्पर्क सत्ता की अधिक गंभीर स्थितियों के साथ अप्रत्यक्ष जागृत रूप में स्थापित हो जाता है और हम पूर्ण समाधि के लिये तैयार हो जाते हैं। इस प्रक्रिया से विशेष लाभ यह होता है कि रचनात्मक चिंतन की एक ज्योतिर्मयी क्रिया 'पुरुष' के नियंत्रण के अधीन हो जाती है जिससे चेतना का शेष भाग शासित होता है, उच्चतर और विशालतर विचारों और भावनाओं से भर जाता है, और उन विचारों और भावनाओं के सांचे में तेजी से ढलकर पूर्णत्व को प्राप्त होता है। भक्तियोग में इन दोनों प्रक्रियाओं का एक समान उपयोग होता है और इनके द्वारा समस्त सत्ता को एकाग्र किया जाता है। अथवा समूची प्रकृति को भक्ति के विषय, उसके आकारों, उसके मूलतत्त्व, उसके गुणों से तथा पूजा और मिलन के हर्ष से सराबोर कर दिया जाता है। ज्ञानयोग में, उसी तरह ध्यान का उपयोग यथार्थ और बाह्य रुप के बीच , आत्मा और प्रकृति के रूपों का ब्रह्म के साथ सम्पर्क स्थापित करने एवं उसमें प्रवेश कर जाने के लिए घनीभूत मनोनिवेश करने में किया जाता है।

श्रीअरविन्द का 'पूर्णयोग' इन सभी उद्देश्यों को समन्वित करता है। वस्तुतः बाहरी अवस्थाएं अनिवार्य नहीं है किंतु ध्यान के समय एकांतर, अकेलापन, साथ ही शरीर की स्थिरता सहायक होते हैं, कभी-कभी नौसिखिये के लिए लगभग आवश्यक। परंतु व्यक्ति को बाहरी अवस्थाओं से भागना नहीं चाहिए। एक बार ध्यान की आदत बन जाए तब इसे सभी परिस्थितियों में लेट कर, बैठ कर, चलते हुए, अकेले या किसी के साथ, नीरव वातावरण में या शोरगुल में भी संभव बनाया जा सकता है। प्रथम आंतरिक आवश्यक अवस्था है ध्यान की बाधाओं यानी मन की चंचलता, विस्मृति, निद्रा, शारीरिक तथा स्नायविक अधीरता तथा बेचैनी के विरुद्ध संकल्प की एकाग्रता। दूसरी है- आंतरिक चेतना, चित्त की एक वर्धनशील शुद्धता और चंचलता, जहां से विचार और भावनाएं उठती हैं, यानी सभी विक्षुब्धकारी प्रतिक्रियाओं से मुक्ति, जैसे क्रोध-शोक-विषाद, भौतिक घटनाओं के विषय में चिंता आदि।

प्रश्न उठता है ध्यान के लिए विषय या विचार क्या होना चाहिए?

श्री अरविंद के अनुसार, 'हमारी प्रकृति तथा उच्चतम अभीप्साओं के साथ जो सबसे अधिक सुसंगत हो, परंतु इसका सबसे सुनिश्चित उत्तर है – ब्रह्म। हमेशा ध्यान और चिंतन मनन के लिए सर्वश्रेष्ठ विषय तथा विचार है, जिस पर मन को एकाग्र करना चाहिए - सब में भगवान हैं भगवान में सब हैं और तात्विक रूप से इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह निराकार भगवान है या साकार। आत्मपरक रूप से वह एक आत्मन है। वे इसी विचार को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि यह उच्चतम है।

एक अन्य प्रकार का ध्यान -

ध्यान के अनेक प्रकार हैं। हम एक विचार को ले सकते हैं और एक निर्दिष्ट परिणाम पर पहुंचने के लिए उसका अनुसरण कर सकते हैं, यह एक सक्रिय ध्यान है। जो लोग किसी समस्या का समाधान करना चाहते हैं या लिखना चाहते हैं, वे इसी प्रकार का ध्यान करते हैं, बिना यह जाने हुए कि वे ध्यान कर रहे हैं। कुछ लोग बैठकर किसी विचार का अनुसरण किए बिना किसी चीज पर एकाग्र चित्त होने का प्रयास करते हैं, किसी बिंदु पर केवल एकाग्र होते हैं जिससे एकाग्रता की शक्ति गहन हो सके। किसी बिंदु पर मन को एकाग्र करते हुए यदि हम एकाग्रता की शक्ति पर्याप्त मात्रा में एकत्र कर लेने में सफल हो जाते हैं, चाहे वह मानसिक-प्राणिक या शारीरिक हो, तब क्षण विशेष में हम एक दूसरी चेतना में प्रवेश कर जाते हैं। अन्य लोग अपने मस्तिष्क से सब प्रकार की गतियों, विचारों, चिंतनों, प्रतिक्रियाओं को बाहर निकालने का तथा वास्तविक नीरवता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यह अत्यंत कठिन कार्य है। कई वर्षों तक प्रयास करके भी कई बार सफलता नहीं मिलती। एक और प्रकार का ध्यान है जिसमें विचारों को रोकने की कोशिश के बिना यथासंभव अचंचल बने रहने की आवश्यकता होती है क्योंकि कुछ विचार बिल्कुल यंत्रवत् होते हैं, यदि हम इन्हें रोकने का प्रयास करें तब वर्षों में भी आवश्यक नहीं कि परिणाम प्राप्त हो। अतः हमें चाहिये कि अपनी समस्त चेतना को एकत्र करके, यथासंभव अचंचल और शांत बने रहें, बाहरी चीजों से अपने को अनासक्त कर लें मानो उनमें हमारी कोई दिलचस्पी नहीं और अचानक अभीप्सा की लौ को तेज कर दें, हमारे अन्दर जो भी विचार आता हो उसे इस लौ में डाल दें जिससे लौ ऊंची से ऊंची उठ सके। हम अपने को इससे तादात्म कर लें और अपनी चेतना तथा अभीप्सा के अंतिम बिंदु तक ऊपर जाएं। कुछ और ना सोचें केवल एक अभीप्सा हो जो परिणाम की चिंता किए बिना ऊपर की ओर चढ़ती जाए, बिना सोचे कि क्या होगा और बिना इस इच्छा के कि कुछ हो सकता है, केवल अभीप्सा के आनंद के लिए जो ऊपर चलती जाए चलती जाए.., निरंतर एकाग्रता के साथ अपने को अधिक से अधिक तीव्र बनाते हुए। और वहां विश्वास करने योग्य है कि जो भी होता है वह यथासंभव सर्वश्रेष्ठ है यानी हमारी संभावनाओं का यह अधिकतम है जो सिद्ध हो सकता है। यदि हम ऐसा करें यह संभावनाएं व्यक्तियों के लिए बहुत भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। अभी तक केंद्र में मन को एकाग्र करने का प्रयास करना यानी वह स्थान जहां अभीप्सा की लौ जलती है और समस्त ऊर्जा को वहां एकत्र करना, और संभव हो तो सतर्क नीरवता की स्थिति में चले जाना। मानव ऐसी अत्यंत सूक्ष्म चीज सुनना चाहता है जो पूर्ण ध्यानावस्था या सतर्कता की मांग करती है, संपूर्ण एकाग्रता एवं समेकित नीरवता और तब बिल्कुल टस-से-मस ना होना। ना कुछ सोचना ना हिलना डुलना तथा उद्घाटन की ऐसी स्थिति में जाना की यथासंभव सब कुछ ग्रहण किया जा सके। किंतु इस बात का ध्यान रखा जाए कि जब कुछ हो रहा हो तब क्या हो रहा है, इसे जानने की कोशिश ना की जाए क्योंकि यदि कोई समझने या सक्रिय रूप से निरीक्षण भी करना चाहता है तब एक प्रकार की मानसिक क्रिया होने लगती है जो ग्रहणशीलता की पूर्णता में बाधक बन जाती है। जितना संभव हो व्यक्ति को सतर्क एकाग्रता के साथ बिल्कुल नीरव निश्चल और निश्चेष्ट बने रहना चाहिए। यदि इस में सफल हो जाता है तब व्यक्ति ध्यान से बाहर आ जाता है। कुछ समय के बाद अंदर से चेतना में कुछ नया उभरता है। एक नई समझ,

एक नया बोध, जीवन में एक नई मनोवृत्ति। उस क्षण यदि व्यक्ति इसका निरीक्षण करे तब उसे पता चलता है कि कोई चीज रूपांतर के मार्ग पर एक कदम आगे बढ़ गई है यह एक प्रबोधन सत्य की सत्यता या निकटतम समझ या रूपांतर की एक शक्ति हो सकती है जो मनोवैज्ञानिक प्रगति में या चेतना के विस्तार में या तुम्हारी गतिविधियों पर सत्ता की क्रियाओं पर एक महत्वपूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने में तुम्हारी मदद कर सकती है।

सतत् ध्यान -

ध्यान करने में बिताए गए घंटों की संख्या आध्यात्मिक प्रगति का सबूत नहीं है। प्रगति का प्रमाण यह है कि जब हमें ध्यान करने के लिए प्रयास करने की जरूरत न हो, बल्कि तब हमें ध्यान तोड़ने की कोशिश करनी पड़े। इस समय ध्यान तोड़ना कठिन हो जाता है, भगवान के विषय में चिंतन बंद करना कठिन लगता है, सामान्य चेतना में नीचे उतरना कठिन हो जाता है, तब हम प्रगति के बारे में सुनिश्चित हो सकते हैं। हम सच्ची प्रगति करते हैं जब भगवान में एकाग्रता हमारे जीवन की आवश्यकता बन जाती है, जब हम इसके बिना रह नहीं सकते, जब यह स्वाभाविक रूप से सुबह से रात तक निरंतर बना रहता है, चाहे हम किसी भी कार्य में व्यस्त क्यों ना रहें। चाहे हम ध्यान के लिए बैठें अथवा किसी कार्य में व्यस्त रहें कि हमसे जिस चीज की मांग की जाती है वह है सचेतनता। वही है एकमात्र आवश्यकता, निरंतर भगवान के प्रति सचेत बने रहना।

हमारे मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि ध्यान के लिए बैठना क्या अनिवार्य अनुशासन नहीं है? क्या इससे भगवान के साथ अधिक तीव्र और संकेंद्रित एकत्व प्राप्त नहीं होता?

ऐसा हो सकता है, परंतु हम लोग जो उपलब्ध करना चाहते हैं वह केवल अनुशासन नहीं है। हमें जो उपलब्ध करना है, वह है, हम अपने सभी कर्मों में, हर गतिविधियों में, सब समय भगवान पर एक आवेशित रहें। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो बिल्कुल ध्यान नहीं करते परंतु इससे यह विचार नहीं बना लेना चाहिए कि वे प्रगति नहीं कर रहे हैं। वह भी एक अनुशासन का पालन करते हैं, हां, वह अन्य प्रकृति का हो सकता है। कर्म करना भक्ति और आंतरिक समर्पण के साथ कर्म करना भी एक आध्यात्मिक अनुशासन है। अंतिम लक्ष्य है भगवान के साथ सतत एकत्व में बने रहना, ध्यानावस्था में ही नहीं बल्कि सभी परिस्थितियों तथा समस्त सक्रिय जीवन में। कुछ लोग ध्यान में ऐसी अवस्था में पहुंच जाते हैं जिसे वे अत्यंत उत्तम और आनंदमय समझते हैं। वे उसमें आत्म संतुष्ट होकर बैठ जाते हैं और संसार को भूल जाते हैं, परंतु जब भी किसी विघ्न से विक्षुब्ध होते हैं तब वे ध्यान से बाहर आने पर क्रोधित और अशांत हो जाते हैं क्योंकि उनके ध्यान में बाधा पड़ गई। यदि हमें ध्यान में जाने के लिए प्रयास करना पड़े, तब हम आध्यात्मिक जीवन जीने की योग्यता से अभी बहुत दूर हैं। जब ध्यान से बाहर आने में प्रयास करना पड़े तब सचमुच हमारा ध्यान इस बात का संकेत है कि हम आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कर चुके हैं ।

कुछ अन्य अनुशासन भी हैं जैसे हठयोग और राजयोग, जिनका व्यक्ति अभ्यास कर सकता है फिर भी आध्यात्मिक जीवन से उनका कोई संबंध नहीं होता। श्री अरविंद आश्रम पांडिचेरी की संस्थापिका

श्रीमां (मीरा अल्फांसा) कहती हैं- 'हठयोग शरीर पर नियंत्रण कर लेता है जबकि राजयोग मन पर, परंतु आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश का अर्थ है भगवान में छलांग लगाना जैसे तुम समुद्र में कूद पड़ते हो। यहां अंत नहीं, बल्कि आरंभ हैं, क्योंकि छलांग लगाने के बाद तुम्हें भगवान में निवास करना सीखना होगा।

हम बहुत सक्रिय रूप से किसी भी कार्य में व्यस्त रह सकते हैं फिर भी आंतरिक ध्यान तथा भगवान पर एकाग्रता की मनोवृत्ति बनाए रख सकते हैं जब हम यह स्थिति प्राप्त कर लें तब पाते हैं कि जो भी कार्य हम करते हैं उसकी गुणवत्ता बदल जाती है। ना केवल हम उसे उत्तम ढंग से करते हैं बल्कि उसे बिल्कुल अनपेक्षित बल के साथ करते हैं तथा अपनी चेतना इतनी ऊंची और इतनी शुद्ध बनाए रखने में सफल रहते हैं कि हमें अब कुछ भी स्पर्श नहीं करता, इस हद तक कि दुर्घटना हो जाने पर भी हमें आंच तक नहीं आएगी। निःसंदेह यह पराकाष्ठा है, किंतु एक ऐसी पराकाष्ठा जिसकी व्यक्ति अभीप्सा कर सकता है।

इस भ्रांति में भूल से भी न रहना चाहिए कि हम एक नितांत शांत कोने में बैठकर, बिल्कुल अचंचल बने रहकर ही ध्यान कर सकते हैं। हम सभी परिस्थितियों में रहकर ध्यान करने में सफल हो सकें श्रीमां इसे ही सच्चा ध्यान कहती हैं। अपने मस्तक को रिक्त करना नहीं बल्कि अपने को भगवान के चिंतन-मनन पर एकाग्र करना। यदि हम उन्हें अपने अंदर बनाए रख सकें तब हम जो भी करेंगे उसकी गुणवत्ता बदल जाएगी। हम अपने आप को पहले से थोड़ा भिन्न अनुभव करेंगे। अपने अन्दर अनुभव करेंगे एक ऐसी शांति, एक निश्चलता, एक आंतरिक स्थिरता, एक अपरिवर्तनीय शक्ति जो कभी हार नहीं मानती।

ध्यान में आने वाली दो सामान्य कठिनाइयां-

मन हमेशा सक्रिय रहता है परंतु हम लोग पूर्ण रूप से यह निरीक्षण नहीं करते कि यह क्या कर रहा है, बल्कि सतत चिंतन की धारा में अपने आप को प्रवाहित होने देते हैं। जब हम एकाग्र होने का प्रयास करते हैं तब चिंतन की धारा हमारे निरीक्षण में प्रमुख स्थान ले लेती है। यह है प्रथम सामान्य बाधा, दूसरी बाधा है ध्यान के समय नींद का आना जो योग के प्रयास में आती है। यदि ध्यान करने में यह कठिनाई है कि सब प्रकार के विचार आने लगते हैं तो ये विरोधी शक्तियों के कारण नहीं बल्कि मानव मन की सामान्य प्रकृति के कारण होता है। सभी साधकों में यह कठिनाई पाई जाती है और बहुत के साथ तो यह बहुत दीर्घकाल तक बनी रहती है। इससे छुटकारा पाने के अनेक तरीके हैं। उनमें एक तो है विचारों को देखना और यह निरीक्षण करना कि मानव मन की प्रकृति क्या है परंतु उन्हें कोई स्वीकृति नहीं देना। दूसरा है विचारों को इस प्रकार देखना मानो वे हमारे विचार नहीं है, साक्षी पुरुष के समान पीछे हटना और स्वीकृति से इनकार करना।

इसमें विचारों के प्रति बाहर से आने वाली वस्तु के समान वृत्ति अपनाई जाती है। सामान्यतः ऐसा होता है कि कुछ समय के बाद मन के दो भाग बन जाते हैं, एक भाग मानसिक साक्षी के समान देखता है व पूरी तरह अक्षुब्ध और स्थिर बना रहता है तथा दूसरा भाग जो निरीक्षण का विषय है, प्रकृति भाग, जिसमें विचार गुजरते हैं या भ्रमण करते रहते हैं, बाद में व्यक्ति नीरवता की ओर बढ़ सकता है या प्रकृति भाग को भी स्थिर बना सकता है। एक तीसरी विधि भी है ,सक्रिय विधि जिसके द्वारा व्यक्ति यह देखता है कि विचार कहां से आते हैं। उसे पता चलता है कि विचार उसके भीतर से नहीं बल्कि बाहर से आते हैं, मानो

सिर के बाहर से आ रहे हैं यदि व्यक्ति उन्हें आते हुए देख सके या पता लगा सके तब उनके प्रवेश करने से पहले ही उन्हें बाहर धकेल दिया जाना चाहिए। यह शायद सबसे कठिन मार्ग है और इससे सब नहीं कर सकते। किंतु यदि किया जा सके तब यह नीरवता लाने का सबसे छोटा और सबसे शक्तिशाली मार्ग है। जब व्यक्ति ध्यान करने का प्रयास करता है तब अंदर जाने के लिए जाग्रत चेतना को गंवा देने के लिए तथा अंदर जाग्रत होने, एक गहरी आंतरिक चेतना में जाने का दबाव होता है। परंतु प्रथमत: मन इसे सो जाने के लिए दबाव के रूप में ग्रहण करता है क्योंकि निद्रा ही आंतरिक चेतना का एकमात्र प्रकार है जिसका वह अभ्यस्त है। ध्यान योग में इसलिए निद्रा प्रायः पहली कठिनाई है- परंतु यदि व्यक्ति अध्यवसाय करता रहे तब शनैः-शनैः निद्रा आंतरिक चेतन अवस्था में बदल जाती है । यह निश्चित रूप से कहीं अधिक अच्छा है कि ध्यान के बाद व्यक्ति कुछ समय के लिए नीरव तथा प्रकृतिस्थ बना रहे। ध्यान को लापरवाही या उपेक्षा से देखना भूल है - ऐसा करने से व्यक्ति ग्रहण नहीं कर पाता या जो भी ग्रहण किया गया है, छलक जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामान्य भौतिक जीवन के साथ-साथ आन्तरिक जीवन को निरन्तर उन्नति के पथ पर गतिशील करने के लिए नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास आवश्यक हैं।

नव ज्योति चक्र

"जगदपि ब्रह्म सत्यं न मिथ्या"

- संकलन

आदि काल से मनुष्य की यह तीव्र अभीप्सा रही है कि उसे सत्य चाहिए, पूर्णता, अमरता व प्रकाश चाहिए, और कुल जमा कहें तो ईश्वर ही चाहिए। वह काल के महा समुद्र पर यात्रा करता यह मनुष्य अपनी सत्य-जिज्ञासा की नई नई खोजों में अपनी नन्ही नौक लेकर दूर सुदूर के तटों और जोखिम भरी गहराइयों में भटका है और कितनी ही पहाड़ियों, घाटियों व दलदलों में इसकी नाव फंसी है लेकिन वह फिर भी किसी-न-किसी नई आशा का बल लेकर निकल आई है और बढ़ती चली आ रही है। क्योंकि इस आदि अभीप्सा ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसका पीछा कभी नहीं छोड़ा है। एक दिन वह उसे जान कर ही रहेगा।

भारतवर्ष में सत्य की यह शोध अपनी चरम सीमा पार कर गई है। परा-विधा में कितने ऋषि –मुनियों ने आत्मा-परमात्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करके एक अद्भूत शांति और आनन्द में वास किया है। यह तो

रही ऊर्ध्वमुखी खोज। पर संसार में भी अपरा-विधा के सागर में गोते लगा कर अनेक प्रकार के रत्नों पर रत्न निकाले गए हैं जिनसे जीवन को सजा कर बड़े ही सुन्दर ढ़ग से सुगठित और सज्जित किया गया है। चारों वर्णों व आश्रमों का समन्वित विचार अपने मूल में एक आध्यात्मिक विधान था। फिर भी विधा और अविधा दो विरोधी धाराएं ही रही हैं। ईशोपनिषद् कहता है-

विद्यांचविद्यांच यस्तव्देदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यामृतमश्नुते॥

पर क्या विधा-अविधा दोनों के पार जाकर उस साम्य को यहाँ मानव जीवन में जिया जा सकता है? क्या दिव्य जीवन पृथ्वी पर संभव है? यदि यह संभव न होता तो यह आदि-अभीप्सा मानव हृदय में कब की मत खा गई होती। फिर प्रश्न है कि क्या दिव्य और अदिव्य या उन्नत व निम्न चेतनाओं का आपस में कोई आंतरिक संबंध है? यदि ऐसा न होता तो जड़ में से विकास की क्रिया ही कैसे संभव होती ? बराबर नीचे की चेतनाओं, जैसे प्राण व मन की प्रेरणा को ऊर्ध्व मन व प्राण की चेतनाओं का उत्तर व साहाय्य प्राप्त होता आया है तभी तो वे चेतनाएं यहाँ प्रतिष्ठित हो सकीं। पर वे चेतनाएं क्रमिक थीं और पूर्ण व अंतिम नहीं थीं। इसी लिए पूर्णता इस लिए यहाँ प्रतिष्ठित न हो सकीं। केवल अतिमानसिक चेतना ही, जिसके कारण यह सृष्टि संपन्न हुई है और जो इसे बराबर धारण किए हुए है वही यहाँ आकर और जीवन में प्रतिष्ठित होकर इसको पूर्णता प्रदान कर सकती है। इसका पूरा उत्तर, अंतर्दर्शन, अनुभव व साक्षात्कार श्रीअरविन्द ने अपनी चरम-परम अतिमानसिक सिध्दि से मनुष्य को कराया है। यह अतिमानसिक चेतना के अवतरण का सुयोग मनुष्य को उनसे ही पहले-पहल प्राप्त हुआ है और जीवन में ही पूर्णता का झण्डा गाड़ दिया गया है। अब सदा के लिए उसके आशा के द्वार खुल गए है। उन्होंने इस चेतना को पहले अपने शरीर पर उतारा और फिर श्रीमाँ ने अपने तप से उसे सन् 1956 में जड़ता की कोख में उतार कर मानव विधि को ही बदल डाला है। इस प्रकार एक प्रकाश-चक्र का आरंभ कर दिया है। यदि अचित् में से विकास की क्रिया का पूर्व-चक्र सत्य है और यदि जड़ता से प्राण व मन की चेतना का उद्भव हो सका है तो जड़ता की गठरी में अभी जो कुछ बंधा पड़ा है वह भी निश्चय ही खुल कर रहेगा। श्रीअरविन्द अपने दिव्य जीवन में कहते हैं, यदि पशु प्रकृति की एक ऐसी जीवित जाग्रत प्रयोगशाला है जिसमें उसने मनुष्य की रचना की है तो मनुष्य स्वयं एक चिंतनशील और जीवित जाग्रत ऐसी प्रयोगशाला है जिसके चेतन सहयोग से प्रकृति अतिमानव की रचना करना चाहती है। यही 'ऋतायन' की सिध्दि है जो सृष्टि में अभी छिपी पड़ी है। ऋतायन का अर्थ है सक्रिय सत्य की पूर्णाभिव्यक्ति।

अतिमानसिक चेतना ही सच्चिदानन्द की अभिव्यक्तिकामी वह पूर्ण चेतना है जो सर्वज्ञानी और सर्वशक्तिशाली भी है। यह किसी भी निम्न चेतना की अज्ञानता के साथ समझौता नहीं करेगी, यदि यह ऐसा करती है तो पूर्ण नहीं रह सकती। यह यदि समझौता करे तो मन, प्राण, व जड़ में जो अतिमानसिक शक्ति अनभिव्यक्त पड़ी है वह कैसे व्यक्त होगी? और वह न व्यक्त हो तो उस चेतना का अवतरण यहां स्थायी कैसे बनेगा? मन, प्राण, शरीर ही तो उसका आधार हैं। तो फिर साधना की प्रक्रिया का एक मात्र तरिका है उनका अतिमानस में रूपान्तरण। श्रीमाँ ने उस चेतना को जड़ में उतारकर नींव से ही अर्थात अचित् से चित्-विकास को सतत गति प्रदान कर दी है। इसके बिना आज के वर्तमान मन की समस्याओं का समाधान

असंभव था। यदि ऐसा न किया गया तो आज संसार सर्वनाश की स्थिति में पहुंच गया होता। लेकिन अब उसे बचा लिया गया है।

क्या जड़ता में से प्राण ने प्रकट होकर फूलों, कोपलों, पौधों और पेड़ों के मौन संकेत से हमें प्रारंभ में ही आत्मा के प्रथम प्रस्फुटन का विशाल दर्शन नहीं करा दिया था? इनमें छिपी चेतनाओं का इतिहास मौन भाषा में हमें कुछ इंगित नहीं दे गया था? पर उसे किसने समझा? इस इतिहास को भी हम आज श्रीअरविन्द व माँ के द्रष्टा अंतर के प्रकाश में ही पढ़ने में समर्थ हुए हैं। मानव को ही तो फूलों में प्रच्छन्न मौन चेतनाओं की पूर्णता को प्राप्त करना है। यह सिध्दि केवल मोक्ष के मार्ग और चित्त-वृत्ति-निरोध के द्वारा संसार से मुख मोड़कर साधित करना और उनको अपने सत्य स्वरूप की ओर खोलना होगा। यह रूपांतरण ही एक तरफ इस जीवन लीला के और दूसरी ओर उस ऐकांतिक मोक्ष के बीच के अपाट्य खाई को भर सकता है, जो पहले कभी नहीं भरा गया। इस सारी साधना के विस्तार, खिलाव व पूर्णता के आनंद का हमें उनके महाग्रंथ 'दिव्य जीवन' में और महाकाव्य 'सावित्री' में रसास्वादन करना होगा। मेरा इस विषय में कुछ कहना तो छोटे मुंह बड़ी बात होगी।

यहाँ मुझे श्रीअरविन्द दर्शन के विषय में कुछ कहना इस लिए आवश्यक हो गया कि मेरी इन कविताओं में इन्हीं विचारों की एक टूटी-फूटी झांकी मिलेगी। यद्यपि वे भी उन विचारों का छोटे मुंह बड़ा गान ही हैं। इसीलिए अत्यन्त विनम्रता व संकोच से मैं इस संकलन को ले कर आपके सम्मुख आ रही हूँ। यह कोई मेरे कवि, लेखक या साहित्यकार का परिचायक नहीं, वैसा बनने का मेरा ध्येय ही कहाँ रहा, उसके लिए कभी तैयारी या साधना ही कहाँ की गई? ये कविताएं तो एक भटकते जीव की कहानी हैं जो संसार के दु:ख-सुख, बाधा-बंधन, राग-द्वेष, इच्छा-अनिच्छा, मोह-ममता, आकर्षण-विकर्षण, उन्नति-अवनति, ठहराव-भटकाव अभिमान और उदारता के भावों को लिए-लादे घूमता फिरता रहा। मैं बराबर इनसे बाहर निकलने का मार्ग ढूंढ़ती रही, पर व्यर्थ, मुझे वह मिला नहीं। यह एक अनचली, अनसुनी और अनुकृत यात्रा थी। हाँ, एक अनजाना, अनदेखा, आग्रही पथप्रदर्शक चाहे-अनचाहे मेरे साथ लगा रहा है जिससे में अपना पीछा नहीं छुड़ा पाई हूँ। वह थी एक अन्नत, अजस्र और अखण्ड छन्द की 'लय' जो बचपन से ही मेरे हृदय में सागर की तरह गूंजती आई है। यह मुझ से कुछ आशा भी करती आई है जिसे मैं कभी पूरा नहीं कर सकी। माता-पिता ने बचपन में उसे शायद एक संगीत प्रेम कर के जाना होगा। गांधीवादी पिता ने मेरी चार-पाँच वर्ष की आयु से ही खिलाफत आदि की सभाओं में इस संगीतमयता का भरपूर इस्तेमाल कर लिया था। युवावस्था में उसी को काव्य प्रेम समझा गया होगा। पर कहां? संगीत सीखने का प्रयत्न भी सफल नहीं हुआ। मैं संगीत की बंधी ताल-लय में कहाँ का रह पाती थी? मैं उसके बाहर निकल जाती। और कविता में भी जो जब तक हिन्दी काव्य क्षेत्र में गीतों के प्रति आदर रहा तब तक अपनी लय के साथ सही या गलत एकता साध कर मैं चहकती रही और लोग समझते रहे कि मैं कविता अच्छी पढ़ती हूँ। वे उस पर मुग्ध होते रहे। पर असल आकर्षण तो था उस 'लय' का जिसके विचार कभी व्यक्त ही नहीं हो पाए। पर जब कविता ने नए रूप-रंग धारण किए, मुक्त छन्द के नाना प्रयोग होने लगे - कविता, नई कविता, अकविता और न जाने कितने नाम। तब मैं उस होड़ में उनके साथ न चल पाई। बस मैं भी फिर हर जगह लकीर से अलग होती रही। यदि काव्य ही मेरा ध्येय होता तो समय के बहाव में बदल गई होती। पर कहाँ,

इसी लिए कहना पड़ है कि कविता मेरा साध्य नहीं एक साधन जरूर है।

आखिर अंतर समन्वय की प्रतीक उस छन्द और लय से जीवन में कभी जुड़ते कभी टूटते, टूटन में कराते और जुड़ने में एकता का आनंद लेते और फिर उस आनंद को ढूंढ़ते, पकड़ते इस सब से थक कर, हारकर एक दिन मेरे मन ने विद्रोह कर ही दिया। मुझे लगा कि पर्दे के पीछे एक सच्चा जीवन स्पन्दित हो रहा है। उसकी सुगन्धि, उसका आनंद और प्रकाश मुझे जरूर मिल सकता है। पर पर्दा फाड़ना होगा, दीवार ढहानी होगी। वह कैसे हटाया जाय मुझे मालूम न था। जैसे कोई तैराक बहुत दिन समुद्र में तैरते-तैरते थक कर ठीक अपनी चरम निराशा के समय एक नए द्वीप की खोज कर ले वैसे ही मैंने भी श्रीअरविन्द और श्रीमाँ की छाया को प्राप्त कर एक दिन संतोष की सांस ली। बस फिर मेरी कविता, साहित्य-प्रेम व संगीत-प्रेम ही नहीं अपितु सभी कार्य - घर गृहस्थी के संबंध समाज सेवा व देशप्रेम की लगन आदि सभी का अर्थ लग गया। और मेरा ही क्या, देखती हूं कि संसार के दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, धर्म, राष्ट्रीयता, मानव एकता और सौन्दर्य बोध व कला बोध ही नहीं जीवन के सारे व्यापार ही मुझे इस अध्यात्म की परिभाषा के अंक बने मालूम होते है।

तो फिर पाठकों को यदि ये असंगत प्रलाप भी लगें तो वे मुझे क्षमा करेंगे। एक बालक जिसे अपने स्वप्र में देखी पूरी सृष्टि, हठात् सचमुच ही देखने को मिल जाए-वहाँ का जीवन, लोग, उनके विचार, एक नई दिनचर्या, अभय का राज, दु:ख कष्टों के बीच भी प्रसन्न मुखमुद्राएं, बूढ़ों में भी बच्चों की चचंलता, जहाँ मृत्यु को भी एक लीला ही समझा जाता हो—'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय। नवानि गृहाति नरोअपराणि॥' तो ऐसे जीवन को देखकर यह बच्चा क्या खुशी से पागल नहीं हो जाएगा और अपने भाई बहनों को उसके विषय में कुछ सुनाना नहीं चाहेगा ? अपनी आश्चर्य भरी अनुभूतियों पर व्यक्त करना नहीं चाहेगा?

यह मेरी कविताओं का एक प्रतिनिधि काव्य संग्रह है। मैं देखती हूं कि अपने-आप यह मेरे अंतर-विकास की एक कहानी बन गया है। इस संग्रहरूपी भवन में मैंने पांच खण्ड किए हैं। प्रथम खण्ड तो मेरे भवन की नींव ही है अर्थात् पहले मैंने श्रीअरविन्द की विचार धारा को कुछ अधिक स्पष्ट करने वाली कविताओं को रखा है, जिससे पाठक कविताओं में सब जगह उनकी विचार धारा को पकड़ सकें। यह एक नवीनतम विचार धारा का प्रयोग है। अत: सर्व प्रथम मैं स्वयं श्रीअरविन्द की ही एक कविता के अनुवाद को रखने का साहस कर बैठी हूं। यह कविता नहीं एक महामंत्र है। इसमें मुझे सृष्टा व सृष्टि का उद्देश्य, तीनों भाव एक स्पन्दित होते लगते हैं। इसमें काव्य, कला का रस और कवि एक ही हो गए हैं, 'रसो वै स:' साकार हो उठा है। अरूण प्रभ गुलाब से अधिक सुन्दर और सृष्टि में सत्य, शिव, सुन्दर के भाव को एक साथ व्यक्त करने वाला दूसरा क्या प्रतीक मिलेगा? इस कविता का नाम "भागवत गुलाब" (Rose of God) रखा गया है। इसमें स्रष्टा की पांच ध्यान-सघनताओं के तपस् का वर्णन है। प्रत्येक पद में इन्हीं विभिन्न पांच नामों से उसका संबोधन किया गया है और प्रत्येक पद के अन्त में सृष्टि के आदि स्रोत उन पांचों दिव्य भावों से पृथ्वी पर अभिव्यक्त होने की प्रार्थना की गई है। इसमें है सृष्टि का पूर्ण साफल्य, मानव जीवन का चरम प्राप्तव्य और उनकी ऋषि दृष्टि का पूर्ण संकेन्द्रण। यह कविता कुछ कठिन है इसीलिए इसका अंग्रेजी मूल दे दिया गया है।

फ़क़ीर का आलम

संकलनकर्ता : सुरेन्दरनाथ जौहर 'फ़क़ीर'

शाहजहाँ बादशाह के बड़े पुत्र शाहजादा दाराशिकोह को बाबा लालदयाल जी के उपदेशों का पता चला तो वह उनसे मिलने के लिए विकल हो उठा। दारा के प्रेम-पूर्ण पत्र पाकर स्वयं बाबा लालदयाल जी दारा से मिलने लाहौर गये। वहाँ बहुत सी सभायें की गई। दारा पर बाबादयाल का बड़ा प्रभाव पड़ा। दारा और बाबा लालदयाल जी के बीच बहुत से प्रश्नोत्तर हुए।

वे प्रश्नोत्तर फारसी में हैं । मगर असल किताब आम-फहम नहीं है। छपा हुआ उर्दू में तरजुमा भी है, मगर भारी गलतियों से भरा हुआ है। इसलिये नीचे उन प्रश्नोत्तरों का सरल भाषा में अनुवाद दिया जाता है; ताकि सर्व-साधारण इन ऊँचे दर्जे के वचनों से फायदा उठा सकें। सवाल दाराशिकोह ने किये और जवाब बाबा लालदयाल जी ने दिये हैं।

स.-फ़क़ीर का आदि और अन्त क्या है?
ज.- आदि फना (मिटना, नेस्ती की हालत) है और अन्त बका (अमर-अजर हो जाना) है।
स.-फक़ीर की सर-बुलन्दी (सर ऊँचा होना यानी प्रतिष्ठा) किस बात में है?
ज.-सर झुकाने में; यानी अपने को छोटा बनाये रखने में।
स.-फ़क़ीर की अक्लमन्दी किस बात में है?
ज.-इस बात में कि सिवा अपने प्रीतम (यानी मालिक) के किसी और चीज में अपना दिल न लगावे।
स.-फकीर का बल किस बात में है?
ज.-इस बात में कि अपना बल-पौरुष छोड़कर, दीन-अधीन होकर मालिक के बल का भरोसा रखे।
स.-फ़क़ीर के सिर पर क्या है?
ज.-खुदा का साया।
स.-हर-एक के आगे क्या है?
ज.-रिज्क (जीविका) ।
स.-हर-एक के पीछे क्या है?
ज.-मौत।
स.-फ़क़ीर को फिक्र किस बात की रहती है?
ज.- अपने गुरु की सेवा की।
स.-फकीर को शुबहा किस बात का रहता है?
ज.-इस बात का कि इबादत (आराधना-पूजा आदि) जो भी कर रहा हूँ वह कबूल होगी या नहीं।

स.-फकीर को क्या उचित है?

ज.- नींद और आलस को न आने देना।

स.-फकीर को काहिली (आलस्य किस चीज से होता है?

ज.-ज्यादा खाने से।

स.-फ़कीर की चुस्ती (फुरती) किस बात में है?

ज.-कायदे और अहतियात (सतर्कता, सचेत) के साथ खाने –पीने में है।

स.-फकीर के कान और जबान कैसे होने चाहिये?

ज.-कान तो मालिक का गुणानुवाद सुननेवाले और जबान बेहूदा बातों से खामोश रहनेवाली।

स.-फकीर की कोशिश किस बात में रहती है?

ज.-इस बात में कि हरदम मालिक की याद बनी रहे, कभी बिसरे नहीं।

स.-फकीर का घर कहाँ है?

ज.-खुदा के मुल्क में।

स.-खुदा का मुल्क कहाँ है?

ज.-खुदा का नाम खुदा का मुल्क है।

स.-फ़क़ीर क्या पीता है?

ज.- प्रेम प्याला।

स.-फकीर के घर का चिराग क्या है?

ज.-सूरज और चाँद।

स.-फकीर के बैठने और सोने का फर्श क्या होता है?

ज.-जमीन।

स.-फकीर को हमेशा क्या करते रहना चाहिये?

ज.-दीनता और शुकर ।

स.-फकीर की हविस (कामना, इच्छा) क्या होती है?

ज.-इस दरर्जे पर पहुँचने की कि प्रीतम हरदम बगल में रहे और दुनियावी ताल्लुकात से दिल बे-ताल्लूक हो जाये।

स.-फकीर की होशियारी किस बात में है?

ज.-अपने दीन और ईमान को मजबूत बनाने में और उस पर दृढ़ता से कायम रहने में।

मौलिक विचारों की आवश्यकता

- संकलन

हमारी सबसे ज्यादा एवम् पीड़ादायक बेबसी यह है कि हाल में युरोप द्वारा हमारे ऊपर नई शर्तें और नया ज्ञान थोपा जा रहा है । हमने इसे आत्मसात करने, हमने इसे नकारने, हमने इसे चुनने की कोशिश की परन्तु हम इसमें से किसी भी बात को सफलतापूर्वक नहीं कर पाये। इसे सफलतापूर्वक आत्मसात करने के लिए दक्षता की आवश्यकता है; लेकिन हम यूरोपियन परिस्थिति और ज्ञान में कौशल हासिल नहीं कर पाये, और हम उनके द्वारा जब्त, अधीन और गुलाम बना लिए गए। किसी भी बात को सफलतापूर्वक अस्वीकार करना इस बात पर निर्भर करता है कि हम कितनी समझदारी से यह समझ पाएँ कि हमें क्या अपनाना है। हमारी अस्वीकृति भी कुशलता पूर्वक होनी चाहिये, हमें कोई बात समझ कर अस्वीकार करनी चाहिए बजाय इसके कि हम समझने में असमर्थ रहें।

लेकिन हमारा हिन्दु धर्म और हमारी पुरातन संस्कृति हमारी वह धरोहर जिसे हमने न्यूनतम बुद्धिमत्ता से सँजोया; हमने जिंदगी भर वह सब कुछ बिना सोचे-समझे-विचारे किया, हमने विश्वास किया बिना सोचे कि हम इस पर क्यों विश्वास कर रहे हैं, हम दृड़तापूर्वक यह इसलिये करते हैं कि कहीं-किसी किताबों में ऐसा लिखा है, या किसी ब्राह्मण ने ऐसा कहा है, क्योंकि शंकर ऐसा सोचते हैं, या फिर ऐसा इसलिए करते हैं कि किसी ने इस बात का यह मतलब निकाला है कि हमारे मूल ग्रंथ या हमारा धर्म ऐसा कहता है। हमारा कुछ भी नहीं है और न ही हमारी बुद्धि में ऐसा व्याप्त है। जो कुछ भी हमारे पास है वह हमने कहीं से प्राप्त किया है। हमने नये ज्ञान के बारे में बहुत थोड़ा सा जाना है, हमने सिर्फ यही समझा है, जिसे यूरोपियन ने हमें उनके और उनकी नवीन सभ्यता के बारे में समझाया है। हमारी अंग्रेजी सभ्यता – अगर उसे हम सभ्यता कहें - तो हमारी निर्भरता 10 गुना बढ़ी है बजाय उसका निदान करने के।

इससे भी ज्यादा सफलतापूर्वक चुनाव में हमारी बुद्धि का स्वावलंबी होना आवश्यक है। यदि हमारे पास सिर्फ नये विचार या नई व्यवस्था उसी तरह से आते हैं जिस तरह से वे प्रस्तुत किये जा रहे हैं तब हम बजाय चुनने के उसकी नकल करें तो यह एक मूर्खतापूर्ण और अनुपयुक्त कदम होगा। यदि हमें यह ज्ञान हमारे पूर्व ज्ञान के आधार पर है जो कि कई बार शुन्य था, हम उसको बिना समझे, मूर्खतापूर्वक अस्वीकर कर देंगें। चुनाव का तात्पर्य यह है कि हमें वस्तुओं को उस तरह नहीं देखना चाहिये, जिस तरह से विदेशी देखते हैं या फिर हमारे रूढ़िवादी पंडित जैसे देखते हैं, बल्कि हमें इनको उसी तरह से देखना चाहिये जिस तरह से वे हैं। लेकिन हमने उनको अंधाधुंध या बेतरतीब तरीके से आत्मसात कर लिया है या फिर अस्वीकार कर दिया है, हमें यह पता ही नहीं कि कैसे आत्मसात या अस्वीकृत करना चाहिए। फलस्वरुप हम युरोपियन प्रभाव से पीड़ित हो जाते हैं और इस प्रकार हम कई मुद्दों पर हार जाते हैं या मूर्खतापूर्वक उसका विरोध करते हैं, अपने परिवेश के गुलाम बन जाते हैं और फिर हम न तो नष्ट होते हैं और न ही अस्तित्व बचा पाते हैं। हम वास्तव में कुछ सरलता और सूक्ष्मता को सँभाल पाते हैं, हम कुछ चमक के साथ खूबसूरत नकल कर लेते हैं, हम उसको प्रशंसा के साथ शानदार ढंग से उस विषय की बारीकता के

साथ ग्रहण कर सकते हैं, लेकिन हम प्रायः सोचने में असफल हो जाते हैं और हम उनके जीवन और हृदय को नियंत्रित करने में असफल हो जाते हैं। जबकि हम जीवन और हृदय पर नियंत्रण करके ही आशा रख सकते हैं और एक राष्ट्र के रूप बच सकते हैं।

हम अपने खोये हुए ज्ञान की स्वतन्त्रता और लोच को किस तरह से पुनः प्राप्त कर सकते हैं? हम, भले ही कुछ समय के लिए, इसे जिस तरह से खोया है उसके विपरीत जाकर, या फिर सब विषयों में अपने विचारों को मुक्त कर, दासत्व से अधिकार की सोच अपनाकर ऐसा कर सकते हैं। वह यह नहीं है कि सुधारक या शब्दों का अंग्रेजीकरण करने वाले हम से क्या चाहते हैं। इनका कहना है कि हमें सत्ताधारी पर ध्यान नहीं देना है और अन्धविश्वास और रीति रिवाजों के विरुद्ध विद्रोह कर के ऐसा कर सकते हैं और अपने मस्तिष्क को इन बन्धनों से मुक्त कर सकते हैं। "इनका कहना है" से तात्पर्य है कि हमें त्यागना है मैक्स मुलर के अधिकार के लिए सायना के अधिकार को भी, शंकर के एकतावाद या अद्वैतवाद या फिर दार्शनिक हैकल के द्वैतवाद को भी, या फिर जो शास्त्रों के अनुसार है या फिर जो युरोप के अलिखित शास्त्रों के अनुसार है, या फिर ब्राह्मण के खिलाफ या फिर युरोप के वैज्ञानिकों और विचारकों या विद्वानों के हठधर्मी सुझावों को भी। दासता के ऐसे मूर्खतापूर्ण कार्य को किसी भी प्रकार का आत्मसम्मान नहीं मिलता है। हमें वह कड़ी तोड़नी है, चाहे वो कितनी भी सम्मानित क्यों न हो, परन्तु यह सब स्वतंत्र रुप से होनी चाहिये, लेकिन यह होना चाहिए सत्य के लिए, यूरोप के नाम पर नहीं। यह एक अच्छा सौदा नहीं होगा यदि हम अपने पुराने अलंकरण चाहे वो हमारे लिए कितने भी पुराने क्यों न हो गये हों, को युरोपियन शिक्षा के लिए आदान प्रदान करें या फिर हमारे हिंदुओं के लोकप्रिय अन्धविश्वास या मत को विज्ञान के भौतिकतवाद के अंधविश्वास से परिवर्तित करें।

हमारी पहली अवश्यकता है, अगर हमें अपना अस्तित्व बनाए रखना है तब, हमें विश्व में हमारे नियत कार्य को पूरा करना है और वह यह है कि भारत के युवा सभी विषयों पर स्वतंत्रतापूर्वक अपने विचार व्यक्त करना सीखें ताकि हर विषय पर लाभदायक तरीके से उसकी जड़ तक जायें, न की सतह तक ही सीमित रह जायें, पक्षपात से रहित हों, कुतर्क और दुर्भावना से प्रेरित न हों, और तेज धार की एक तलवार की तरह सभी प्रकार के दकियानूसी अंधकारवादी विचारधारा को काट दें, भीम की गदा की तरह प्रहार करना चाहिए। हम नहीं चाहते हैं कि हमारा मस्तिष्क युरोप के शिशुओं की तरह हो जाये, उनकी तरह कपड़े में लपेटे हुए नहीं रहें, हमारे युवा ईश्वरीय प्रदत्त स्वतंत्र और अवरोध रहित गतिवान रहें, भारत की केवल सूक्ष्म ही नहीं बल्कि स्वाभाविक रूप से प्राप्त व्यापक और संप्रभुता को पुनः प्राप्त करें और अपने मूल्य को खुद समझें। यदि हम अपनी पुरानी बेड़ियों को पूरी तरह से हटा नहीं सकते हैं तो फिर बाल कृष्ण की तरह छकड़े को घसीटते हुए आगे बढ़ें और दो पेड़ों को, जो दो धारायें और अड़चनें आ रही हैं, मध्यकाल का अंधापन, दुर्भावनायें, हठधर्मिता और आधुनिकता की स्वाभिमानता को, उखाड़ फेंके। पुरानी नींव टूट चुकी है और हम इस भयंकर उथल-पुथल और बदलाव की नदी में इधर से उधर बह रहे हैं। भूतकाल की बर्फ की चट्टानों के साथ चिपके रहने का कोई अर्थ नहीं है, ये तुरंत पिघल जाएंगे और वे उन सब शरण लेने वालों को भयंकर खतरनाक पानी में गोते लगाने के लिए छोड़ देंगे। हमें इस कमजोर दलदल में फँसने की जरुरत नहीं है, न तो समुंदर में और न ही इस सूखी धरती पर जिसका सम्बन्ध उधार ली हुई युरोप की

सभ्यता से है। वहाँ पर हमारा निश्चित ही दुःखभरा एवम् बुरा अंत होगा। अब हमें तैरना सीखना है ताकि हम जीवन के उस जहाज तक पहुँच जायें जहाँ पर सत्य कभी भी परिवर्तित नहीं होता है। इस प्रकार हम वापस उस अतिप्राचीन सुदृढ़ चट्टान तक पहुंचे।

हमें अपना चुनाव अंधाधुंद तरीके से बिना सोच विचार के नहीं करना है और न ही कोई खिचड़ी पकानी है और बाद में यह घोषणा करें कि यह पूर्व और पश्चिम का समावेश है। हमको शुरुवात से ही, चाहे जो कुछ भी स्त्रोत हो, उस पर विश्वास करके स्वीकार नहीं करना चाहिए, बल्कि खुद सब पर प्रश्न कर अपनी राय खुद बना कर स्वीकार करना चाहिए। हमें इस बात से डरना नहीं है कि हम भारतीय नहीं कहलायेंगे या फिर इस खतरे में पड़ जायेंगे कि हम हिन्दू नहीं रहेंगे। यदि वास्तव में अपने बारे में इस तरह सोचते हैं तो ऐसा कभी नहीं होगा कि भारत कभी भारत नहीं होगा या फिर हिन्दू हिन्दू नहीं रहेंगे। यह तभी सम्भव है जब हम स्वयं यह मान लें कि हम युरोप की नकल हैं तथा हमारा सारा कार्य मूर्खतापूर्वक होता है। हमें कभी भी पक्षपात नहीं करना है, और हमें कोई निर्णय लेने के पहले इसकी जानकारी होनी चाहिए। मूलरुप से हमें यह सोचना होगा कि किसी भी बात को बिना कोई प्रश्न किये स्वीकार नहीं करना है। इस तरह हमें अपनी पुरानी और नई, उन सभी राय से जिसका हमने परिक्षण नहीं किया है, हमारे हमेशा के पारंपरिक संस्कार और पहले से ही सोचे हुए निर्णय से छुटकारा पाना है।

श्रीअरविंद, CWSA Vol 12 पृष्ठ 39-41

"अगर भारत बचेगा संसार भी बच जाएगा"

स्वर्गीय सुरेन्द्र मोहन घोष, जो बाद में एक प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी, नेता और राज्य सभा में कांग्रेस पार्टी के नेता भी रहे, अपनी तरुणाई में ही श्रीअरविन्द के सम्पर्क में आए। वे श्रीअरविन्द एवं उनके भाई बारीन्द्र कुमार द्वारा संगठित क्रान्तिकारी दल के सदस्य बन गए। उन दिनों क्रान्तिकारी दल का सदस्य बनने से पहले हर नए अभीप्सु को पूर्ण गुप्तता की शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी और राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए संपूर्ण आत्म-समर्पण के लिखित प्रतिज्ञापत्र पर अपनी छाती के रक्त से हस्ताक्षर करने पड़ते थे। सुरेन्द्र मोहन वस्तुतः भाग्यशाली थे क्योंकि स्वयं श्री अरविन्द ने उन्हें यह शपथ दिलाई थी।

शपथ-ग्रहण समाप्त होने पर श्री अरविन्द ने अचानक सुरेन्द्र मोहन से पूछा, "भारत को स्वंतत्र क्यों होना चाहिए?" तरुण सुरेन्द्र मोहन राष्ट्रीयता के उस मसीहा के ये शब्द सुन कर चकित रह गए। कुछ रुक कर श्री अरविन्द ने स्वयं ही उत्तर दिया, "क्योंकि अगर भारत बचेगा तो सारा संसार बच जाएगा।"

योग की प्रणालियाँ

- संकलन

मानवी सत्ता के विभिन्न मनोवैज्ञानिक विभाजनों और उन पर आधारित प्रयत्न-सम्बन्धी इन अनेक उपयोगिताओं और उद्देश्यों के बीच के सम्बन्ध जिन्हें हमने प्राकृतिक विकासक्रम का संक्षेप में निरीक्षण करते हुए देखा है, हमें 'योग' की विभिन्न पद्धतियों के मूल सिद्धान्तों और प्रणालियों में बार-बार मिलेंगे। और, यदि हम उनके केन्द्रीय अभ्यासों और प्रधान उद्देश्यों को संयुक्त और समन्वित करना चाहें तो हम देखेंगे कि अभी भी प्रकृति-प्रदत्त आधार ही हमारा स्वाभाविक आधार है और यही उनके समन्वय की शर्त भी है।

एक दृष्टि से योग वैश्व प्रकृति की सामान्य क्रिया से आगे निकल जाता है और उसे पीछे छोड़कर ऊपर की ओर आरोहण करता है। कारण, वैश्व माता का उद्देश्य भगवान से, अपनी क्रीड़ा और सृष्ट रूपों में, मिलना है और वहीं उसे प्राप्त करना है। किन्तु योग के उच्चतम आरोहणों में वह अपने से आगे जाकर स्वयं अपने अन्दर ही भगवान को प्राप्त कर लेती है, इसमें वह विश्व से आगे निकल जाती है, पर साथ ही वैश्व क्रीड़ा से अलग भी रहती है। इसलिए कुछ लोग यह मानते हैं कि यह योग का केवल उच्चतम उद्देश्य ही नहीं है, बल्कि एकमात्र सच्चा या वाञ्छनीय उद्देश्य भी है।

किन्तु, जिस वस्तु का निर्माण प्रकृति ने अपने विकासक्रम में किया है उसी के द्वारा वह सदा अपने विकास क्रम से आगे भी निकल जाती है। वैयक्तिक हृदय ही अपने उच्चतम और पवित्रतम भावों को ऊपर उठाकर परात्पर आनन्द या अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त करता है वैयक्तिक मन ही अपनी सामान्य क्रियाओं को मानसिकता से परे के ज्ञान में परिवर्तित करके अनिर्वचनीय सत्ता के साथ अपने तादात्म्य को जान लेता है तथा अपने पृथक् अस्तित्व को उस परात्पर एकता में विलीन कर देता है। सदा व्यक्ति अर्थात् 'आत्मा' ही, जो अपने अनुभव में प्रकृति के द्वारा सीमित होता है और उसी की रचनाओं के द्वारा कार्य करता है असीमित, मुक्त और परात्पर 'आत्मा' को प्राप्त करता है।

योगाभ्यास के सम्भव हो सकने के लिए क्रियात्मक दृष्टि से तीन विचार आवश्यक हैं। वस्तुत: इस प्रयत्न के लिए तीन पक्षोंको अपनी सम्मति देनी होगी - भगवान, प्रकृति और मानव आत्मा, आधिक गहन भाषा में इन्हें 'परात्पर सत्ता', 'वैश्व सत्ता' और व्यक्ति भी कह सकते हैं। यदि व्यक्ति और प्रकृति अपने भरोसे ही छोड़ दिये जायें तो उनमें से एक दूसरे के साथ बँध जाता है और दूसरे की मन्द गति के कारण अधिक आगे बढ़ने में समर्थ नहीं होता। यहीं आकर किसी परात्पर वस्तु की आवश्यकता पड़ती है जो उससे स्वतन्त्र और बड़ी हो, जो हम पर और उस पर भी कार्य कर सके और जो हमें ऊपर अपनी ओर खींच सके तथा प्रकृति से, उसकी अपनी प्रसन्नता से या बलपूर्वक, वैयक्तिक आरोहण के लिए उसकी स्वीकृति माँग सके।

यही सत्य योग के प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त के लिए ईश्वर, भगवान, सर्वोच्च आत्मा या सर्वोच्च सत्ता के विचार को आवश्यक बना देता है। इसी सर्वोच्च सत्ता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है और यही एक प्रकाशप्रद सम्पर्क तथा उसे प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करता है। उतना ही सच्चा योग का वह पूरक विचार

है जिसे भक्तियोग ने बार बार लागू किया है अर्थात् यह विचार कि जिस प्रकार परात्पर भगवान व्यक्ति के लिए आवश्यक हैं और व्यक्ति उनकी खोज करता है उसी प्रकार व्यक्ति भी एक प्रकार से भगवान के लिए आवश्यक है और भगवान उसकी खोज करते हैं। यदि भक्त भगवान की खोज एवं अभिलाषा करता है तो भगवान भी भक्त की खोज और अभिलाषा करते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के मानव-जिज्ञासु के बिना, ज्ञान के सर्वोच्च विषय के बिना तथा व्यक्ति के द्वारा ज्ञान की वैश्व क्षमताओं के दिव्य प्रयोग के बिना ज्ञानयोग का अस्तित्व नहीं हो सकता। भगवान के मानव-प्रेमी के बिना, प्रेम और आनन्द के सर्वोच्च उद्देश्य के बिना तथा व्यक्ति के द्वारा आध्यात्मिक, भाविक और सौन्दर्यात्मक उपभोग की वैश्व क्षमताओं के दिव्य प्रयोग के बिना 'भक्तियोग' का अस्तित्व नहीं हो सकता। मानव कार्यकर्ता के बिना सर्वोच्च संकल्पशक्ति के बिना, समस्त कर्मों और यज्ञों के स्वामी के बिना और व्यक्ति के द्वारा शक्ति और कर्म की वैश्व संस्थाओं के दिव्य प्रयोग के बिना कोई 'कर्मयोग' नहीं हो सकता। वस्तुओं का उच्चतम सत्य-सम्बन्धी हमारा बौद्धिक विचार कितना भी एकेश्वरवादी क्यों न हो, क्रियात्मक रूप में हमें इस सर्वव्यापक त्रिविध सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ता है।

कारण, मानव और वैयक्तिक चेतना का दिव्य चेतना के साथ सम्बन्ध ही योग का सार-तत्त्व है। जो चीज विश्व की क्रीड़ा में अलग हो गयी थी उसका अपनी सच्ची सत्ता के साथ, अपने स्रोत और अपनी वैश्वता के साथ मेल-इसी का नाम योग है। यह सम्बन्ध किसी भी समय तथा जटिल और गहनत: - संगठित चेतना के किसी भी स्थल पर हो सकता है, इसी चेतना को हम अपना व्यक्तित्व कहते हैं। यह भौतिक चेतना में शरीर के द्वारा चरितार्थ किया जा सकता है, प्राण में यह उन व्यापारों की क्रिया के द्वारा साधित होता है जो हमारी स्नायविक सत्ता की अवस्था और अनुभवों को निर्धारित करते हैं, जब कि मन में यह भाविक हृदय, सक्रिय संकल्प-शक्ति अथवा विवेकशील मन द्वारा साधित होता है, अधिकांश में यह मानसिक चेतना के उस समस्त क्रियाओं में एक सामान्य रूपान्तर के द्वारा साधित होता है। यह सम्बन्ध वैश्व या परात्पर 'सत्य' और 'आनन्द' के प्रति सीधी जागृति के द्वारा और मन में केन्द्रीय अहंभाव को परिवर्तित करके किया जा सकता है। इस सम्बन्ध को जिस स्थल पर हम स्थापित करना चाहेंगे वही हमारे योग का रूप निर्धारित करेगा।

कारण, यदि हम भारत में प्रचलित योग की प्रमुख प्रणालियों की विशिष्ट प्रक्रियाओं की जटिलताओं को एक ओर रखकर अपनी दृष्टि उनके केन्द्रीय विचार पर रखें तो हमें पता लगेगा कि वे एक ऐसे आरोहणकारी क्रम में अपने-आपको संगठित करती हैं जो सीढ़ी के सबसे निचले सोपान अर्थात-शरीर से आरम्भ होकर वैयक्तिक आत्मा और परात्पर और वैश्व सत्ता के बीच के सीधे सम्बन्ध तक जाता है। हठयोग शरीर और प्राणिक क्रियाओं को पूर्णता और सिद्धि प्राप्त करने के अपने यन्त्रों के रूप में चुनता है, उसका सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ होता है। राज-योग मानसिक सत्ता को उसके विभिन्न अंगों में, अपनी मुख्य शक्ति के रूप में चुनता है; वह सूक्ष्म शरीर पर अपने-आपको एकाग्र करता है। कर्म, प्रेम और ज्ञान का त्रिविध मार्ग, मानसिक सत्ता के एक भाग को, संकल्प-शक्ति, हृदय या बुद्धि को प्रारम्भिक बिन्दु के रूप में प्रयुक्त करता है और मुक्तिदायक 'सत्य', आनन्द और असीमता पाने के लिए उसका रूपान्तर करना चाहता है, ये सत्य, आनन्द और असीमता ही आध्यात्मिक जीवन के स्वभाव के अंग हैं। इसकी प्रणाली व्यक्ति के शरीर में

मानव पुरुष और उस दिव्य 'पुरुष' के बीच में प्रत्यक्ष आदान-प्रदान की होती है जो प्रत्येक शरीर में निवास करता है, पर फिर भी समस्त रूप और नाम से आगे निकल जाता है।

हठयोग का लक्ष्य प्राण और शरीर पर विजय प्राप्त करना है और जैसा कि हम देख चुके हैं, इनका संयोग अन्नकोष और प्राणकोष के रूप में स्थूल शरीर का निर्माण करता है; प्राण और शरीर का सन्तुलन ही मानवी सत्ता में प्रकृति के समस्त कार्यों का आधार है। प्रकृति द्वारा स्थापित सन्तुलन सामान्य अहंकारयुक्त जीवन के लिए तो पर्याप्त है, किन्तु वह हठयोगी के उद्देश्य को पूरा करने लिए काफी नहीं है। कारण, उसका हिसाव उतनी ही प्राणिक या सक्रिय शक्ति पर लगाया जाता है जितनी कि आवश्यकता मानव-जीवन के सामान्य काल में भौतिक इंजन को चलाने के लिए या उन विभिन्न कार्यों को थोड़ा-बहुत यथार्थ रूप में करने के लिए पड़ती है जिनकी माँग उससे इस शरीर में निवास करने वाला वैयक्तिक प्राण और उसे सीमित करने वाली जगत-परिस्थिति करते हैं। अतएव हठयोग प्रकृति में शोधन करना चाहता है तथा एक ऐसा अन्य सन्तुलन स्थापित करना चाहता है जिसके द्वारा यह भौतिक ढाँचा प्राण की वृद्धिशील प्राणिक या सक्रिय शक्ति के वेगवान प्रवाह का सामना करने में समर्थ हो जायगा; यह शक्ति अपनी मात्रा और वेग में वस्तुतः अनिश्चित और असीमप्राय है। प्रकृति में यह सन्तुलन प्राण की एक सीमित मात्रा और शक्ति के व्यक्तिकरण पर आधारित है। इससे अधिक शक्ति को व्यक्ति अपने व्यक्तिगत और पैतृक अभ्यास के कारण न तो सह सकता है और न उसे प्रयुक्त या नियन्त्रित कर सकता है। हठयोग में यह सन्तुलन प्राण-शक्ति को व्यापक बनाने के लिए एक द्वार खोल देता है, वह शरीर में वैश्व शक्ति की एक बहुत ही कम रूढ़ और सीमित क्रिया को प्रवेश करने देता है तथा उसे अपने अन्दर धारण करके प्रयुक्त एवं नियन्त्रित करता है।

हठयोग की मुख्य क्रियाएँ 'आसन' और 'प्राणायाम' हैं। अनेक आसनों अर्थात् बैठने की नियत स्थितियों द्वारा वह पहले शरीर को चञ्चलता से मुक्त करता है। यह चञ्चलता इस बात का संकेत है कि वह उन प्राणिक शक्तियों को जो उसमें वैश्व जीवन के महासागर से प्रविष्ट हुई हैं कर्म और गति में चरितार्थ किये बिना अपने अन्दर धारण करने में असमर्थ है। इसके बाद हठयोग शरीर को एक असाधारण प्रकार का स्वास्थ्य, बल तथा नमनीयता प्रदान करता है तथा उसे उन रूढ़ अभ्यासों से मुक्त कर देता है जो उसे साधारण भौतिक प्रकृति से बाँधे रखते हैं और उसे उसकी सामान्य क्रियाओं की तंग सीमाओं में घेरे रहते हैं। हठयोग की प्राचीन परम्परा में लोग सदा ही यह मानते थे कि यह विजय इतनी दूर तक ले जायी जा सकती है कि वह काफी हद तक गुरुत्व-शक्ति पर भी विजय प्राप्त कर ले। हठयोगी का अगला कदम है विभिन्न प्रकार की गौण परन्तु जटिल प्रक्रियाओं के द्वारा शरीर को समस्त अपवित्रताओं से मुक्त करना तथा स्नायविक प्रणाली को श्वास-प्रश्वास के उन व्यापारों की सहायता से निर्बाध रखना जो उसके अत्यधिक महत्वपूर्ण यन्त्र हैं। इन्हें प्राणायाम कहते हैं अर्थात् श्वास अथवा प्राणिक शक्ति का नियन्त्रण, क्योंकि श्वास लेना प्राणिक शक्तियों की मुख्य भौतिक क्रिया है। पहले यह शरीर की पूर्णता को सम्पन्न करता है: प्राणिक शक्ति भौतिक प्रकृति की बहुत-सी साधारण आवश्यकताओं से मुक्त हो जाती है और व्यक्ति बढ़िया स्वास्थ्य, लम्बा यौवन और प्रायः ही असाधारण रूप से लम्बी आयु प्राप्त कर लेता है। दूसरी ओर, प्राणायाम प्राणकोष में प्राणिक सक्रियता की सर्पाकार कुण्डलिनी-शक्ति को जगा देता है तथा योगी के सामने चेतना

के ऐसे क्षेत्र, अनुभव की ऐसी शृंखलाएँ तथा असामान्य शक्तियाँ खोलकर रख देता है जो सामान्य मानव-जीवन में प्राप्त नहीं होती, साथ ही वह उन सामान्य शक्तियों और क्षमताओं को भी जो उसके पास पहले से हैं अतिशय सबल बना देता है। हठयोगी को कुछ और भी गौण प्रक्रियाएँ सुलभ हैं जिनके द्वारा वह इन लाभों को स्थिर एवं पुष्ट कर सकता है।

हठयोग के परिणाम देखने में बहुत विशेष प्रकार के प्रतीत होते हैं तथा स्थूल एवं भौतिक मन पर प्रबल प्रभाव डालते हैं। पर अन्त में यह प्रश्न उठ सकता है कि इतने बड़े परिश्रम के बाद हमें मिला क्या? भौतिक प्रकृति का उद्देश्य अर्थात् केवल भौतिक जीवन की सुरक्षा, उसकी उच्चतम पूर्णता, बल्कि कुछ हद तक भौतिक जीवन का अधिक उपयोग करने का सामर्थ्य- ये वस्तुएँ असाधारण मात्रा में प्राप्त की जा चुकी हैं। किन्तु हठयोग की दुर्बलता इस बात में है कि इसकी श्रमपूर्ण एवं कठिन प्रक्रियाएँ इतने समय और शक्ति की मांग करती हैं तथा मनुष्य के सामान्य जीवन से उसे इतने पूर्ण रूप से अलग होने को बाध्य करती हैं कि जगत के जीवन के लिए इसके परिणामों की उपयोगिता या तो प्रयोग में ही नहीं लायी जा सकती या फिर वह असाधारण रूप से सीमित होती है। यदि हमें इस हानि के बदले अन्दर के एक अन्य जगत में एक अन्य जीवन अर्थात् मानसिक या सक्रिय जीवन प्राप्त हो जाय तो ये परिणाम दूसरी प्रणालियों अर्थात् राजयोग और तन्त्रों से भी बहुत कम श्रमपूर्ण साधनों द्वारा प्राप्त हो सकते थे और इन्हें स्थिर रखने के लिए इतने कठोर नियमों का पालन भी नहीं करना पड़ता। बल्कि, इन भौतिक परिणामों अर्थात् प्राणिक शक्ति की बहुलता, लम्बा यौवन, स्वास्थ्य तथा लम्बी आयु का लाभ बहुत ही कम होगा, यदि हम सामान्य जीवन से अलग रहकर इन्हीं की खातिर इन्हें कंजूसों की तरह पकड़े रहें, इनका उपयोग न करे या इनका प्रयोग संसार के सामान्य कार्यों के लिए न करें। हठयोग बहुत बड़े परिणाम प्राप्त कर लेता है, परन्तु बहुत ही असाधारण मूल्य पर और बड़े छोटे-से उद्देश्य की खातिर।

राजयोग इससे ऊँची उड़ान भरता है। इसका उद्देश्य शारीरिक सत्ता की मुक्ति और पूर्णता की नहीं, बल्कि मानसिक सत्ता की मुक्ति और पूर्णता को भी प्राप्त करना है तथा भावुक और संवेदनशील प्राण पर नियन्त्रण स्थापित करना एवं विचार और चेतना के समस्त यन्त्र पर प्रभुत्व पाना है। यह अपनी दृष्टि चित्त पर एकाग्र करता है जो मानसिक चेतना का एक ऐसा संघात है जिसमें ये समस्त क्रियाएँ उठती हैं। जिस प्रकार हठयोग अपने भौतिक उपादान को शुद्ध एवं शान्त करना चाहता है उसी प्रकार राजयोग भी मन को पवित्र और शान्त बनाना चाहता है। मनुष्य की सामान्य अवस्था व्याकुलता और अस्तव्यस्तता की अवस्था है, यह एक ऐसा राज्य है जो या तो अपने-आपसे युद्ध करता रहता है या जो बुरी प्रकार शासित होता है। कारण, यहाँ स्वामी अर्थात् 'पुरुष' अपने मन्त्रियों अर्थात् अपनी शक्तियों के अधीन रहता है, बल्कि अपनी प्रजा के अर्थात् अपने संवेदन, भाव, कर्म और उपयोग के यन्त्रों के अधीन रहता है। वस्तुत: इस अधीनता के बदले अपने राज्य अर्थात् स्वराज्य की स्थापना होनी चाहिए। अतएव सबसे पहले अव्यवस्था की शक्तियों पर व्यवस्था की शक्तियों को विजय प्राप्त करने के लिए सहायता मिलनी चाहिए। राजयोग की प्रारम्भिक क्रिया एक सतर्क आत्मनियन्त्रण की क्रिया होती है जिसके द्वारा निम्न स्नायविक सत्ता को सन्तुष्ट करने वाली नियमरहित क्रियाओं के स्थान पर मन के अच्छे अभ्यास डाले जाते हैं। सत्य के अभ्यास से, अहंकारयुक्त खोज के समस्त रूपों के त्याग से, दूसरों को हानि न पहुँचाने की प्रवृत्ति से और पवित्रता से तथा सतत ध्यान

एवं उस दिव्य पुरुष की ओर आकर्षण से जो मानसिक राज्य का सच्चा स्वामी है, मन और हृदय की एक शुद्ध, प्रसन्न और निर्मल अवस्था स्थापित हो जाती है ।

किन्तु यह केवल पहला कदम है। इसके बाद मन और इन्द्रियों की सामान्य क्रियाओं को पूर्ण रूप से शान्त बना देना चाहिए जिससे कि आत्मा चेतना की उच्चतर स्थितियों तक आरोहण करने के लिए स्वतन्त्र हो सके और एक पूर्ण स्वाधीनता और आत्मसंयम के लिए आधार स्थापित कर सके; किन्तु राज-योग यह नहीं भूलता है कि सामान्य मन की अयोग्यता इस बात में है कि वह स्नायविक प्रणाली और शरीर की प्रतिक्रियाओं के अधीन रहता है। इसीलिए वह हठयोग की पद्धति से उसके आसन और प्राणायाम के ढंग ग्रहण कर लेता है; किन्तु साथ ही वह प्रत्येक दशा में उनके अनेक और जटिल रूपों को एक ऐसी अत्यधिक सरल पर प्रत्यक्षतः प्रभावशाली प्रक्रिया में बदल देता है जो उसकी तात्कालिक उद्देश्य-प्राप्ति के लिए पर्याप्त होती है। इस प्रकार वह हठयोग की जटिलता और बोझिलता से मुक्त रहकर उसकी प्रणालियों के द्रुत और शक्तिशाली प्रभाव का उपयोग कर लेता है, यह वह शारीरिक और प्राणिक व्यापारों के नियन्त्रण तथा उस आन्तरिक गतिशीलता को प्राप्त करने के लिए करता है जो एक प्रसुप्त पर असाधारण शक्ति से परिपूर्ण होती है; यौगिक भाषा में यह कुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् अन्दर की कुण्डलित और प्रसुप्त सर्पाकार शक्ति। जब यह हो जाता है तो यह प्रणाली और आगे बढ़ती है और अशान्त मन को पूर्णतया शान्त बना देती है तथा उसे समाधि तक पहुँचाने वाली क्रमिक अवस्थाओं में से गुजारते हुए मानसिक शक्ति की एकाग्रता के द्वारा एक उच्चतर स्तर तक ले जाती है।

'समाधि' में मन अपनी सीमित और सजग क्रियाओं से निकलकर चेतना की अधिक मुक्त और उच्च अवस्थाओं में प्रवेश करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। इसके द्वारा राजयोग दो उद्देश्य सिद्ध करता है; प्रथम तो वह एक ऐसे विशुद्ध मानसिक कर्म को अपने क्षेत्र के अन्दर ले पाता है जो बाह्य चेतना की अस्तव्यस्तताओं से मुक्त होता है और तब वह वहाँ से उन उच्चतर अतिमानसिक स्तरों तक पहुँच जाता है जहाँ वैयक्तिक आत्मा एक सच्चे आध्यात्मिक अस्तित्व में प्रवेश करती है। साथ ही वह अपने विषय पर चेतना की उस मुक्त और एकाग्र शक्ति के प्रभाव को भी प्राप्त कर लेता है जिसे हमारा दर्शनशास्त्र प्रारम्भिक वैश्व शक्ति का नाम देता है और जिसे वह जगत पर भागवत कार्य करने की प्रणाली मानता है, इसी शक्ति के द्वारा योगी, जो समाधि-अवस्था में उच्चतम अति-वैश्व ज्ञान और अनुभव को पहले से ही प्राप्त कर चुका होता है, जागृत अवस्था में भी उस ज्ञान को सीधा प्राप्त कर सकता है तथा उस आत्मसंयम का प्रयोग कर सकता है जो भौतिक जगत में उसकी क्रियाओं के लिए लाभदायक या आवश्यक हो सकते हैं। कारण, राजयोग की प्राचीन प्रणाली का उद्देश्य केवल 'स्वराज्य' या आन्तरिक 'प्रभुत्व' या अपने ही प्रदेश के समस्त क्षेत्रों और क्रियाओं पर आन्तरिक चेतना के द्वारा पूर्ण नियन्त्रण ही नहीं था, बल्कि 'साम्राज्य' अर्थात् बाह्य या आन्तरिक चेतना के द्वारा अपनी बाह्य क्रियाओं और परिस्थितियों पर भी नियन्त्रण था।

हम देखते हैं कि हठयोग जिस प्रकार प्राण और शरीर के साथ व्यवहार करते हुए शारीरिक जीवन और उसकी सामर्थ्यों की असाधारण पूर्णता को अपना उद्देश्य मानता है तथा उससे भी आगे जाकर मानसिक जीवन के क्षेत्र में प्रवेश करता है, उसी प्रकार राजयोग जिसका क्षेत्र मन है मानसिक जीवन की क्षमताओं की असाधारण पूर्णता और विस्तार को अपना लक्ष्य मानता है और फिर उससे आगे जाकर आध्यात्मिक

जीवन के क्षेत्र में प्रवेश करता है। किन्तु इस प्रणाली में यह कमजोरी है कि यह समाधि की असामान्य अवस्थाओं पर बहुत अधिक निर्भर रहती है। इस कमजोरी का एक परिणाम यह होता है कि मनुष्य भौतिक जीवन से अलग-सा हो जाता है जब कि वही उसका आधार और क्षेत्र है और उसी में उसे अपनी मानसिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों को प्राप्त करना है। विशेषकर आध्यात्मिक जीवन इस प्रणाली में समाधि की अवस्था से अत्यधिक जुड़ा होता है। हमारा उद्देश्य आध्यात्मिक जीवन और उसके अनुभवों को पूर्णतया सक्रिय बनाना है तथा जाग्रत अवस्था में, साथ ही क्रियायों को सामान्य प्रयोग में भी उन्हें पूर्णतया उपयोगी बनाना है। किन्तु राजयोग में यह उद्देश्य हमारे समस्त जीवन में उतरकर उसे अधिकृत करने के स्थान पर हमारी सामान्य अनुभूतियों के पीछे एक गौण स्तर पर ही रुक जाता है।

उधर भक्ति, ज्ञान और कर्म का त्रिविध मार्ग उस प्रदेश को हस्तगत करने का प्रयत्न करता है जिसे राजयोग ने विजित नहीं किया है। यह राजयोग से इस बात में भिन्न है कि यह समूची मानसिक प्रणाली की विस्तृत शिक्षा को पूर्णता की शर्त नहीं मानता और इसलिए उसमें व्यस्त नहीं होता, बल्कि यह कुछ केन्द्रीय तत्त्वों को अर्थात् बुद्धि, हृदय और संकल्प-शक्ति को अपने हाथ में ले लेता है और उन्हें उनकी सामान्य और बाह्य क्रियाओं और व्यापारों से परे हटाकर और भगवान पर केन्द्रित करके उन्हें रूपान्तरित करना चाहता है। यह उससे इस बात में भी भिन्न है, - और यहाँ पूर्णयोग के दृष्टिकोण से एक दोष देखने में आता है, -कि यह मानसिक और शारीरिक पूर्णता के प्रति उदासीन है तथा केवल पवित्रता को भागवत सिद्धि की शर्त मानकर उसी को अपना उद्देश्य मानता है। दूसरा दोष यह है कि यह - जिस प्रकार कि आजकल उसका अभ्यास किया जाता है, - तीन समानान्तर मार्गों में से किसी ऐसे एक मार्ग को चुनता है जो अनन्य रूप से और प्रायः ही दूसरे मार्गों का विरोधी होता है, जब कि उसका कार्य एक पूर्ण दिव्य प्राप्ति में बुद्धि, हृदय और संकल्प-शक्ति का एक समन्वयात्मक सामञ्जस्य स्थापित करना था।

ज्ञान के मार्ग का उद्देश्य एकमेव और सर्वोच्च 'सत्ता' की प्राप्ति है। यह बौद्धिक चिन्तन अर्थात् विचार की प्रणाली के द्वारा यथार्थ विवेक-बुद्धि की ओर बढ़ता है। यह हमारी ऊपरी अथवा दृश्यमान सत्ता के विभिन्न तत्त्वों का निरीक्षण करता है तथा उनमें विभेद करता है और उन सबसे अलग रहता हुआ उनके परस्पर-विरोध और पार्थक्य के सिद्धान्त पर पहुँचता है। ये विभिन्न तत्त्व प्रकृति के अर्थात् दृश्यमान प्रकृति के अंगों के रूप में और माया अर्थात् बाह्य चेतना की रचनाओं के रूप में एक तत्त्व में उपस्थित हैं। इस प्रकार यह एकमेव 'सत्ता' के साथ अपना एक ऐसा यथार्थ तादात्म्य स्थापित कर सकता है जो न तो बदल सकता है और न नष्ट हो सकता है और जो न किसी एक तथ्य से या तथ्यों के संघात से निर्धारित किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से इस मार्ग का, जिसका साधारणतया अनुसरण किया जाता है, परिणाम यह होता है कि दृश्यमान लोकों को भ्रान्ति समझकर चेतना से उनका बहिष्कार कर दिया जाता है और व्यक्तिगत आत्मा सर्वोच्च सत्ता में अन्तिम रूप में लीन हो जाती है और फिर वहाँ से नहीं लौटती।

किन्तु यह एकांगी अत्युच्च अवस्था ही ज्ञान के मार्ग का अकेला या अनिवार्य परिणाम नहीं है। कारण, यदि इसका अनुसरण अधिक विस्तृत रूप से, और वैयक्तिक उद्देश्य से कम प्रेरित होकर किया जाय तो ज्ञान की प्राप्ति का परिणाम केवल परात्परता की प्राप्ति ही नहीं, बल्कि भगवान के लिए वैश्व सत्ता पर सक्रिय विजय प्राप्त करना भी होगा। इस अतिक्रम का मुख्य अभिप्राय अपनी सत्ता में ही नहीं, बल्कि सब सत्ताओं

में सर्वोच्च सत्ता की प्राप्ति होगी और अन्त में तो जगत के दृश्यमान रूपों की भी प्राप्ति हो जायेगी, पर यह होगी दिव्य चेतना की एक क्रीड़ा के रूप में ही; यह कोई ऐसी वस्तु नहीं होगी जो उसके सच्चे स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल हो। इस प्राप्ति के आधार पर एक और आगे की उन्नति भी सम्भव है, अर्थात् ज्ञान के सब रूप, चाहे वे कितने ही सांसारिक क्यों न हों, दिव्य चेतना की क्रियाओं में बदल जायेंगे; ये रूप ज्ञान के एक अखण्ड ध्येय को अनुभव करने के लिए प्रयुक्त किये जायेंगे और यह अनुभव उसके अपने अन्दर और उसके रूपों और प्रतीकों की क्रीड़ा में प्राप्त किया जायेगा। इस प्रणाली का यह परिणाम निकल सकता है कि मानव-बुद्धि और बोध का समस्त क्षेत्र ही दिव्य स्तर तक ऊँचा उठ जाय तथा आध्यात्मिक बनकर मनुष्य-जाति में ज्ञान के वैश्व प्रयास की सार्थकता को सिद्ध कर दे।

भक्ति का मार्ग सर्वोच्च 'प्रेम' और 'आनन्द' के उपभोग को अपना उद्देश्य मानता है और सामान्य रूप से सर्वोच्च प्रभु के व्यक्तित्व के विचार को स्वीकार करके उसका उपयोग करता है, साथ ही वह उन्हें दिव्य प्रेमी और विश्व का भोक्ता भी मानता है। तब जगत उस प्रभु की क्रीड़ा के रूप में देखा जाता है और मानव-जीवन उसकी अन्तिम अवस्था मानी जाती है, इसका अनुसरण लुका-छिपी अर्थात् आत्मगोपन और आत्मप्रकाश के विभिन्न रूपों के द्वारा किया जाता है। भक्तियोग मानव-जीवन के उन सब सामान्य सम्पर्कों का उपयोग करता है जिनमें भावावेश उपस्थित रहता है और जिन्हें वह अब अस्थिर सांसारिक सम्बन्धों पर लागू नहीं करता, बल्कि 'सर्व-प्रेम', 'सर्व-सुन्दर' और 'सर्व-आनन्दमय' सत्ता की प्रसन्नता के लिए प्रयुक्त करता है। पूजा और ध्यान केवल भगवान के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की तैयारी के लिए और साथ ही उसे तीव्रता प्रदान करने के लिए किये जाते हैं। यह योग समस्त भाविक सम्बन्धों के प्रयोग में बहुत उदार है; यहाँ तक कि भगवान के प्रति शत्रुता और विरोध को भी, जो कि प्रेम के ही तीव्र, अधीर और विकृत रूप समझे जाते हैं, सिद्धि और मुक्ति का एक सम्भव साधन स्वीकार किया जाता है। यह मार्ग भी-जैसा कि सामान्यतया इसका अभ्यास किया जाता है- मनुष्य को जगत के अस्तित्व से दूर, परात्पर और अति-वैश्व सत्ता में लीन होने की अवस्था तक ले जाता है जो अद्वैतवादी की लीनता से भिन्न प्रकार की होती है।

किन्तु यहाँ भी एकपक्षीय परिणाम अनिवार्य नहीं है। योग इस गलती को सर्वप्रथम इस प्रकार सुधारता है कि वह दिव्य प्रेम की क्रीड़ा को सर्वोच्च आत्मा और व्यक्ति के बीच के सम्बन्ध तक सीमित नहीं रखता, बल्कि उसे उस भावना और पारस्परिक पूजा तक ले जाता है जो सर्वोच्च प्रेम और आनन्द की उसी उपलब्धि को पाने के लिए एकत्र हुए भक्तों के बीच एक-दूसरे के प्रति पायी जाती है। एक अधिक सामान्य संशोधन वह और भी उपस्थित करता है कि प्रेम का दिव्य उद्देश्य समस्त सत्ताओं में, मनुष्य में ही नहीं, बल्कि पशु में भी चरितार्थ हो जाता है, इसकी पहुँच सभी रूपों तक सरलता से हो सकती है। हम देख सकते हैं कि भक्तियोग को इतने व्यापक क्षेत्र में प्रयुक्त किया जाता है कि वह मानव भाव, सम्वेदन और सौन्दर्यात्मक बोध के समस्त क्षेत्र को दिव्य स्तर तक, उसके आध्यात्मीकरण तथा मनुष्य जाति में प्रेम और आनन्दकी ओर किये गये वैश्व प्रयत्न के औचित्य तक ले जाता है।

कर्म के मार्ग का उद्देश्य है मनुष्य के प्रत्येक कर्म का सर्वोच्च संकल्प-शक्ति के प्रति समर्पण। इसका आरम्भ कर्म के समस्त अहंभावयुक्त उद्देश्य के त्याग से और स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की, किसी सांसारिक परिणाम की खातिर किये गये कर्म के त्याग से होता है। इस त्याग के द्वारा वह मन और संकल्प-शक्ति को

इतना शुद्ध कर लेता है कि हम सरलता से उस महान वैश्व 'शक्ति' के प्रति सचेतन हो जाते हैं तथा उसे ही अपने समस्त कार्यों का सच्चा कर्ता मानने लगते हैं, साथ ही हम उस शक्ति के स्वामी को कर्मों का शासक और संचालक भी मानते हैं जब कि व्यक्ति केवल ऊपरी आवरण या बहाना होता है, एक यन्त्र या अधिक निश्चित रूप में कहें तो कर्म और दृश्यमान सम्बन्ध का एक चेतन केन्द्र मात्र होता है। कर्म का चुनाव और उसकी दिशा अधिकाधिक चेतन रूप में इसी सर्वोच्च संकल्प-शक्ति और वैश्व 'शक्ति' पर छोड़ दिये जाते हैं। इसी को हमारे कर्म और हमारे कर्मों के परिणाम अन्तर में समर्पित कर दिये जाते हैं। इसमें लक्ष्य यह होता है कि आत्मा बाह्य प्रतीतियों और दृश्यमान व्यापारों की प्रतिक्रियाओं के बन्धन से छूट जाये। दूसरे मार्गों की तरह कर्मयोग का उपयोग भी दृश्यमान अस्तित्व से मुक्ति पाने और सर्वोच्च सत्ता से मुक्ति पाने और सर्वोच्च सत्ता में प्रवेश करने के लिए किया जाता है। किन्तु यहाँ भी एकांगी परिणाम अत्यावश्यक नहीं है। इस मार्ग का अन्त भी समस्त शक्तियों में, समस्त कार्यों में दिव्य सत्ता का बोध और वैश्व कर्म में आत्मा का एक स्वतन्त्र और निरभिमान सहयोग हो सकता है। यदि इसका इस प्रकार अनुसरण किया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि समस्त मानव-संकल्प-शक्ति और क्रिया दिव्य स्तर तक पहुँच जाएगी, आध्यात्मिक बन जायेगी तथा मानव-सत्ता में स्वतन्त्रता शक्ति और पूर्णता के लिए किये गये प्रयास के औचित्य को सिद्ध कर देगी।

हम यह भी देख सकते हैं कि यदि वस्तुओं को सर्वांगीण दृष्टि से देखा जाय तो ये तीनों रास्ते एक ही हैं। सामान्यतया दिव्य प्रेम को पूर्ण घनिष्ठता के द्वारा 'प्रिय' का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा, इस प्रकार वह 'ज्ञान' का मार्ग होगा। उसका ध्येय दिव्य सेवा भी होगा और तब वह 'कर्म' का मार्ग बन जायेगा। इसी प्रकार पूर्ण 'ज्ञान' पूर्ण 'प्रेम' और पूर्ण 'आनन्द' को जन्म देगा तथा ज्ञात 'सत्ता' के 'कर्मों' को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लेगा। इसी प्रकार समर्पित 'कर्म', 'यज्ञ' के स्वामी के सम्पूर्ण प्रेम को तथा उसके मार्गों और उसकी सत्ता के गहनतम ज्ञान को जन्म देगा। इस त्रिविध मार्ग के द्वारा ही हम समस्त सत्ताओं में तथा 'एकमेव' की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में उसके पूर्ण ज्ञान, प्रेम और सेवा तक पहुँचते हैं।

स्वयं को दुखी एवं निरुत्साहित मत होने दो। मनुष्यों में दुर्भाग्यवश दूसरों के प्रति निर्दयी होने की आदत होती है। परन्तु यदि तुम अपना कार्य पूरी संजीदगी से करो तो श्रीमाँ संतुष्ट होंगी और शेष सब बाद में आ जाएगा।

-श्री अरविंद

व्यवसाय और अन्तःकरण के बीच संघर्ष

- पवित्र

करीब साल भर से मैं एक ऐसी प्रयोगशाला में काम कर रहा हूँ जहां शराब और दूसरी मदिराओं को ज्यादा अच्छा बनाने के लिए परीक्षण और शोध हुआ करते हैं। दक्षिण-फ्रांस, जहां मैं हूँ, वहां का अधिकतर लोगों का व्यवसाय यही है - शराब के लिए वे अंगूरों की खेती करते हैं। जैसा कि मुझे विश्वास है कि सामान्य रूप से शराब बहुत हानिकर होती है - विशेषकर फ्रेंच-लोगों के लिए - लेकिन मैं स्वयं शराब नहीं पीता। अतः, अपने इसी व्यवसाय को लेकर मेरे मन में संघर्ष बना रहता है। चूंकि एक तरह से मैं अपने प्रति ईमानदार हूं इसलिए निरन्तर अपने-आपसे पूछता रहता हूं : क्या मुझे अपना काम जारी रखना और इस वातावरण में सहयोग देना चाहिये?

ये रहे कुछ संकेत जो तुम्हें अपनी समस्या का हल खोजने में सहायता पहुंचा सकते हैं।

किसी भी सलाहकार की तरह मैं भी तुमसे कह सकता हूं कि इस समस्या का समाधान पूरी तरह से तुम पर निर्भर करता है, क्योंकि ऐसा कोई पक्का नियम नहीं है जो दावे के साथ यह कह सके कि तुम्हें बस यही करना चाहिये। हर मामला अलग होता है, हर व्यक्ति अलग होता है; यहां तक कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित कार्य क्या है यह प्रत्येक की आन्तरिक आवश्यकताओं और उसके विकास की अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है।

लेकिन निश्चित रूप से मेरा यह कहना सन्तोषजनक समाधान पाने में तुम्हारी मदद नहीं करेगा। तुम्हारा मन प्रश्न के सभी पहलुओं के चारों ओर गोल-गोल चक्कर काटता रहेगा, कई सारी सलाहें और उदाहरण तुम्हें कभी फलाना तो कभी ढिमाका व्यक्ति देता रहेगा - और कई बार तो वे सलाहें एकदम विपरीत होंगी, और तुम कभी उस ज्ञान तक नहीं पहुंच पाओगे कि सचमुच तुम्हें क्या करना चाहिये। इन परेशानियों से अपने-आपको मुक्त करने का तरीका बस एक ही है कि स्वयं समस्या और साथ ही उसके समाधान को भी भगवान् के हाथों में सौंप दो। तुम बस इसी अभीप्सा में लगे रहो कि हर क्षण तुम 'भागवत इच्छा' को चरितार्थ करो, कार्य उसी प्रकार करो जिस प्रकार उसे करना चाहिये।

"लेकिन मैं 'भागवत इच्छा' को चरितार्थ कैसे करूं यदि मैं यह भी नहीं जानता कि उनकी इच्छा है क्या?" यह प्रश्न तुम जरूर पूछोगे तुम कहोगे, "जो समस्या मेरे सामने सिर उठाती है यह ठीक इसलिए कि मुझे उसे यथार्थ रूप से जानना है, यह जानना है कि मुझे क्या करना चाहिये। एक बार मैं यह जान लूं तो उसके बाद सब कुछ आसान हो जायेगा।"

नहीं, 'भागवत इच्छा' किसी अध्यक्ष के आदेश जैसी नहीं होती कि बस आदेश मिला और तुमने उसका पालन कर लिया। नहीं। जिस चीज की आवश्यकता है वह आज्ञापालन नहीं है; वह उससे कहीं ज्यादा है- और उससे कहीं अधिक कठिन भी। यह अपने जीवन को स्वयं आकार देने की इच्छा करने के स्थान पर (भले वह 'भागवत इच्छा' के अनुरूप हो) पूरी तरह से भगवान् पर छोड़ देना है कि वे तुम्हारा सारा जीवन गढ़, उसे रूप और आकार दें। मैंने जिस अभीप्सा की बात अभी-अभी की है, अगर तुम उसे इस आन्तरिक मनोभाव के साथ तीव्र और सतत बनाये रख सको कि जो कार्य तुम्हारे सामने आये उसे अच्छी तरह से करोगे तो स्वयं परिस्थितियां वैसी बन जायेंगी जैसा उन्हें होना चाहिये। अगर तुम्हें अपना व्यवसाय बदलना पड़े तो परिस्थितियां भी बदल जायेंगी और वे स्वयं ही तुम्हें उचित व्यवसाय, जो कार्य करना है, उसकी ओर ले जायेंगी।

ऐसा मनोभाव रखना कठिन है, बहुत कठिन, क्योंकि हम किसी की सलाह या आदेश को स्वीकार करने के बाद भी अपनी ही इच्छा से कार्य करने के अभ्यस्त होते हैं। सफल होने के लिए पूर्ण सच्चाई आवश्यक है। समस्त दर्प को विलीन हो जाना चाहिये और भगवान् में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास सदैव बनाये रखना चाहिये।

तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में श्रीमां ने मुझे यह उत्तर लिखने के लिए कहा। वे तुम्हें अपने आशीर्वाद भेज रही हैं।

जीवन में शान्ति और आनन्द के लिए आवश्यक शर्त है पूरी सच्चाई के साथ वहीं चाहना जो भगवान् चाहते हैं। लगभग सभी मानव दुर्गतियां इस तथ्य से आती हैं कि हमें प्रायः हमेशा ही यह विश्वास होता है कि हम भगवान् की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं कि हमें क्या चाहिये और जीवन को हमें क्या देना चाहिये। अधिकतर मनुष्य चाहते हैं कि दूसरे मनुष्यों को उनकी प्रत्याशाओं की पुष्टि करनी चाहिये इसीलिए वे कष्ट भोगते और दुःखी रहते हैं ।

-श्रीमां

श्रीअरबिंदो – एक अंतर्यात्रा

डॉ. धर्मपाल सिंह

(धर्मपाल सिंह की श्रीअरविंद कृत दीव्य जीवन : एक अंतर्यात्रा से संकलित)

"कोई भी मेरे जीवन के बारे में नहीं लिख सकता" श्रीअरबिंदो ने यही कहा था जब उनकी जीवनी लिखने की परिकल्पना की गई थी। क्यों नहीं लिखा जा सकता? इस क्यों का उत्तर भी वे खुद ही देते हैं "मेरा जीवन भौतिक स्तर पर था ही नहीं"। जिनके जीवन के सबसे महत्वपूर्ण 24 वर्ष भौतिक स्तर पर एक ही कमरे की चारदीवारियों के मध्य घिरा रहा उसके बारे में तो केवल एक पंक्ति ही लिखी जा सकती है, "1926 से 1950 तक एकांत में साधन की"। लेकिन हम जैसे ही इस भौतिक जगत की सीमा को लांघ कर आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करते हैं, सभी दीवारें ढह जाती हैं और इस अनंत ब्रह्मांड के हर कण में उनकी उपस्थिती स्पष्ट अनुभव करते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि, शायद इंग्लैंड में उनके शानदार अकादमिक कैरियर और भारत में उनके उग्र राजनीतिक काल के शुरुआती चरणों को छोड़कर, उनका जीवन इतना गहरा था कि इसके चरम अर्थ, मकसद और उपलब्धि को बाहरी घटनाओं के वर्णन से उजागर नहीं किया जा सकता था; एक मनोवैज्ञानिक टिप्पणी द्वारा ही इसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया जा सकता है। उनकी इस यात्रा की एक झलक पाने के लिए न केवल पारंपरिक आध्यात्मिक अनुभूति के विशाल रहस्यों का आभास प्राप्त करना होगा, बल्कि नई परिवर्तनकारी प्रकाश की चकाचौंध भरी विशालताओं को भी देखना होगा, जिसे उन्होंने सुपरमाइंड कहा और जिसे पीड़ित मानवता के लिए पूर्ण रूप से नीचे लाने के लिए उन्होंने चालीस वर्षों तक प्रयास किया। शब्द के सामान्य अर्थ में कोई योगी मरता नहीं है; उसकी चेतना हमेशा भौतिक शरीर के सूत्र से परे होती है, वह अपने भौतिक कोष से परे और उससे अधिक होता है।

रामदेव शुक्ल, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग लिखते हैं,

> "अपने-अपने क्षेत्र में अप्रतिम एक योगी-दार्शनिक और दूसरा भौतिक विज्ञानी। स्वामी विवेकानन्द और अल्बर्ट आइन्स्टाइन विज्ञान और धर्म के विषय में दोनों के विचार एक। स्वामी जी मानते हैं कि "वेदान्त 'वेद' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है ज्ञान। समस्त ज्ञान वेद है और ईश्वर की भाँति अनंत है। हम उसका अनुसंधान मात्र करते हैं, और कुछ नहीं। ये सारे ज्ञान स्वयं ईश्वर हैं। वेद संस्कृत भाषा के महान ग्रंथ हैं। हम अपने देश में वेदपाठी के सामने नतमस्तक होते हैं। भौतिक शास्त्र के विशेषज्ञ की हम कोई चिन्ता नहीं करते। यह अंधविश्वास ही है। यह बिल्कुल ही वेदान्त नहीं यह कोरा जड़वाद है। ईश्वर के लिए समस्त ज्ञान पवित्र है। ज्ञान ही ईश्वर है।" स्वामी जी के कथन को स्मरण करते हुए स्वामी बुधानंद कहते हैं, "हमारे पास यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि भगवान् के लिए धूप-दीप, भक्ति-गीतों एवं प्रवचनों से युक्त एक धर्मस्थान अधिक मुखर है या एक प्रयोगशाला, जहाँ अर्धरात्रि की शांति में प्रयोग किये जाते हों। यह भी सम्भव है कि भगवान

वैज्ञानिक के अनजाने ही, वह जिस प्रकार की पूजा करता है, उसे अधिक पसंद करते हों।"

आइन्सटाइन अपनी पुस्तक 'आउट ऑव माइ लेटर डेज' में कहते हैं कि "वैज्ञानिक प्रणाली इससे अधिक और कुछ नहीं सिखाती कि एक तथ्य दूसरे से किस प्रकार संबंधित है तथा एक दूसरे को कैसे प्रभावित करता है। वस्तुनिष्ठ ज्ञान मानव द्वारा प्राप्य चरम ज्ञान है। फिर भी यह उतना ही स्पष्ट है कि 'जो है' का ज्ञान, 'जो होना चाहिए' के ज्ञान का मार्ग प्रशस्त नहीं करता। धर्म और विज्ञान के बीच क्रियात्मक संवाद अवश्य होना चाहिए क्योंकि धर्म के बिना विज्ञान लंगड़ा है और विज्ञान के बिना धर्म अंधा है।"

बीसवीं सदी के विश्व प्रसिद्ध विचारक बर्ट्रेण्ड रसल इस संबंध को एक उदाहरण से समझाते हैं। "विज्ञान यह बता सकता है कि अमुक लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जाय लेकिन वह यह नहीं बता सकता कि उसे कौन सा लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए। विज्ञान बुलडोजर बना सकता है, लेकिन वह उसके चालक की भावनाओं को प्रशिक्षित नहीं कर सकता जिससे कि वह घुटनों के बल चलने वाले एक बच्चे के सामने उसे रोक दे। धर्म बुलडोजर नहीं बना सकता लेकिन चालक की भावनाओं को नियंत्रित करके बच्चे को बचा सकता है।"

स्वामी विवेकानन्द मानते थे कि "धर्म का उद्देश्य बाह्य एवं अंतः-प्रकृति के नियमन द्वारा अपने अंतर्निहित देवत्व को अभिव्यक्त कर मुक्त होना है।"

'अंतर्निहित देवत्व' को शिखर तक पहुँचा कर नये युग की संभावना का द्वार खोलने वाले महर्षि श्रीअरविन्द स्वामी विवेकानन्द के स्वप्न को साकार करते हैं। अपने मासिक पत्र 'आर्य' में 1915 में महर्षि ने तीन आलेख लिखे। उनमें एक है, 'द सुपर मैन'। महर्षि मानते हैं कि मनुष्य को श्रेष्ठतम 'सुपर' तक ले जाने की योजना स्वयं महामाया प्रकृति की है। इस शब्द का पहली बार प्रयोग जर्मन दार्शनिक 'नीत्शे' ने किया। महर्षि श्री अरविन्द नीत्शे को ईश्वर (ईसामसीह) का वह धर्म प्रचारक मानते हैं जो अपने ही संदेश को ठीक से नहीं समझा सका। 'ईश्वर मर गया' - नीत्शे का यह कथन दुनिया भर में प्रसिद्ध हुआ। उसने ऐसा क्यों कहा, इसे समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। महर्षि श्री अरविन्द अपने आलेख में बताते हैं कि नीत्शे ने वैसा क्यों कहा। सूली पर चढ़ा कर मार दिये गये ईसा का विचार नीत्शे का प्रेरक बना। ग्रीक सभ्यता की दार्शनिक अपूर्णता भी नीत्शे की घोषणा का कारण हो सकती है।

महर्षि श्री अरविन्द देव और असुर को विकास क्रम में साथ-साथ अग्रसर बताते हुए कहते हैं कि एक प्रकाश और देवत्व-अमरत्व से दूर भागता है और दूसरा उसका स्वरूप धारण कर लेता है। वृंदावन के कृष्ण को प्रकृति के विकास चक्र को पूर्ण करने वाला घोषित करते हुए श्री अरविन्द बताते

हैं कि कृष्ण अंतःप्रज्ञा, प्रकाश, प्रेम, आनंद, प्रसन्नतापूर्वक सेवा और सेवा की शक्ति से मनुष्य ही नहीं प्रकृति के उपकरणों तरु-तृण, पशु-पक्षी, यमुना-प्रवाह सब को मोह लेते हैं। इन सब के बीच उनका निजी कुछ नहीं रहता। एक विराट् निजत्व शून्य महाव्यक्तित्व (लार्ज इम्पर्सनल पर्सनैलिटी) बनकर विश्व-मूर्ति स्वरूप सबके अनुभव में आते हैं। महामाया प्रकृति की विराट योजना में कुछ नहीं अतिमानस (Supermind) के मूर्त रूप कृष्ण हैं। उन्हीं के निर्देश पर महर्षि श्री अरविन्द ने बारूदी क्रांति छोड़कर और एक राष्ट्र की मुक्ति का प्रयत्न छोड़कर सम्पूर्ण मानवता के परम कल्याण की योजना पर कार्य किया।

अपने समय तक हुई वैज्ञानिक प्रगति से पूर्ण परिचित महर्षि श्री अरविन्द के अनेक ग्रंथ भारतीय संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ सारांश प्रस्तुत करते हैं और पूर्ण चेतस मानव-भविष्य का नक्शा तैयार करते हैं।"

"इस दिव्य गुण कर्मयुक्त देव के सत्य, स्पृहणीय परम जन्म है। वह देदीप्यमान सबका स्वामी, शीघ्रकारी, पवित्र, सबमें समाहित, सर्वव्यापक, अनन्त के मध्य में तीन रूपों में तीन प्रकार से प्राप्त होता है।" *वामदेव- (ऋग्वेद, IV-1-7, IV-2-1, IV-4-5)*

"हम सांसारिकता में अत्यधिक संलिप्त हो गये हैं। धन के अर्जन एवं व्यय में ही हम अपनी शक्तियों का अपव्यय कर रहे हैं। हम प्रकृति की ओर शायद ही उन्मुख होते हैं जो कि हमसे घनिष्ठता से जुड़ी हुई है। हमने अपना सारा जीवन निकृष्ट वस्तुओं के प्रति समर्पित कर दिया है।"

19वीं शताब्दी के अँगरेज़ी साहित्य के आध्यात्मिकता की ओर अभिमुख कवि विलियम वर्ड्सवर्थ की उपर्युक्त पक्तियाँ हमें मानव-जीवन के महत्व एवं उद्देश्य के बारे में विचार करने के लिए प्रेरित करती हैं। यह संसार किसके द्वारा एवं किसलिए बनाया गया है? यह वास्तविक है या भ्रामक? क्या यह दुःख और वेदना का स्थान है? क्या हम भौतिक स्तर पर जीवन जीने के लिए ही पैदा हुए हैं? बड़ी से बड़ी उपलब्धियों के पश्चात् भी हम क्यों प्रसन्न व सन्तुष्ट नहीं हैं? मानव-जीवन का चरम लक्ष्य क्या है?

इस तरह के अनेक प्रश्न बौद्धिक रूप से जाग्रत लोगों के मन में उठते रहते हैं। समय-समय पर वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और मनीषियों द्वारा इन प्रश्नों के उत्तर भी दिये जाते रहे हैं। श्री अरविन्द एक अप्रतिम मनीषी हैं जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को तर्कपूर्ण ढंग से व्याख्यायित किया है।... (उनका) एक हजार सत्तर पृष्ठों का (एक) ग्रन्थ (है) 'लाइफ डिवाइन'। वे 'द लाइफ डिवाइन' लिखने का कारण बताते हुए कहते हैं: "मानव-मन एक तार्किक मन है और मुझे अपने (आध्यात्मिक अनुभूतिपरक) विचारों की तर्कपूर्ण व्याख्या करनी थी। इसलिए 'दॅ लाइफ डिवाइन' तीन खण्डों में लिखा गया।"

...हम मानव-जीवन का उद्देश्य एवं उसकी अभीप्सा जानने का प्रयास करते हैं। श्री अरविन्द के पूर्व सामान्य रूप से मानव की अभीप्सा जीवन के दुःखों से मुक्ति तथा आत्मिक आनन्द प्राप्त करने की रही है। इसे मोक्ष कहा गया है। श्री अरविन्द एक ऐसे मनीषी हैं जिन्होंने यह घोषणा की कि मानव जीवन का उद्देश्य जीवन से मुक्ति नहीं वरन् जीवन को पूर्ण बनाना है। हमारे जीवन का एक सकारात्मक उद्देश्य है। जीवन को अस्वीकार नहीं किया जाना है बल्कि इसे पूरे उत्साह और आह्लाद के साथ जीना है। चूँकि पूर्णता एक सापेक्ष शब्द है, अतः मानव को कमतर पूर्णता से बृहत्तर पूर्णता की ओर तब तक यात्रा करनी है जब तक वह पूर्ण पूर्णता न प्राप्त कर ले। और यह पूर्णता मानव-जीवन के दिव्य जीवन में रूपान्तरण में निहित है। इस सन्दर्भ में श्री अरविन्द का कथन द्रष्टव्य है:

"पाशविक और अहंमन्य चेतना में दैवी सत्ता को उतारना और उसे पहचानना, अपनी अल्प और अस्पष्ट भौतिक मानसिकता को परिपूर्ण करना एवं अधिमानसिक प्रदीप्ति में रूपान्तरित कर देना, शारीरिक दुःख एवं भावात्मक वेदना से आश्लिष्ट क्षणिक संतुष्टि के दबाव के स्थान पर स्वयंभू आनन्द एवं शान्ति स्थापित करना, यांत्रिक जरूरतों वाले संसार में असीम स्वतन्त्रता स्थापित करना, सतत परिवर्तनशील एवं मरणशील शरीर में अमर जीवन की खोज एवं उसका प्राकट्य - ये कार्य हमें जड़ पदार्थ में ईश्वर की अभिव्यक्ति करने तथा प्रकृति के अपने पार्थिव विकास के उद्देश्य के रूप में दिये गये हैं।"

(दॅ ह्यूमॅन ऐस्पॅरेशन, पृ. 2)

... मानव-मन में एक आवेग होता है जो स्वयं से परे जाना चाहता है, वह मानसिक संकल्पना से उच्चतर मूल्य को स्वीकारना चाहता है। इस विकासोन्मुखी आवेग को विरोधी शक्तियों के बीच से होकर गुजरते हुए सर्वत्र देखा जा सकता है। एक जाग्रत मन का यह दायित्व है कि विरोधी शक्तियों के बीच समन्वय स्थापित करे। वास्तव में, समस्त आभासी विरोधों के पीछे दैवीय समन्वय होता है, इसे हमें केवल महसूस करना है। जड़ पदार्थ में जीवन और मन के विकास के बारे में बात करते हुए श्री अरविन्द यह तर्क देते हैं-

"जब तक हम वेदान्त का तर्क नहीं स्वीकार कर लेते कि जड़ पदार्थ में जीवन तथा जीवन में मन पहले से विद्यमान है क्योंकि अपने तत्त्व में जड़ पदार्थ अवगुंठित (veiled) जीवन है और जीवन एक अवगुंठित चेतना है, तब तक यह तर्कसम्मत नहीं लगता कि जड़ पदार्थ से जीवन का स्फुरण क्यों हो अथवा जीवित स्वरूप में मन का विकास क्यों हो।"

(वही, पृ. 3)

एक बार जब हम जड़ पदार्थ में जीवन की अन्तः उपस्थिति को स्वीकार कर लेते हैं तब हम मन के परे चेतना में किसी तत्त्व की अन्तः उपस्थिति में विश्वास करने के लिए आगे बढ़ जाते हैं। जिस प्रकार पशु से होकर मानव का विकास हुआ है, उसी प्रकार मानव के भीतर से अतिमानव का विकास संभव है। इसीलिए

श्री अरविन्द विश्वासपूर्वक यह घोषणा करते हैं-

"यदि यह सत्य है कि जड़ पदार्थ में अन्तरात्मा अन्तर्निहित है और आभासी (apparent) प्रकृति अदृश्य ईश्वर है, तब मानव में देवी सत्ता की अभिव्यक्ति और अन्दर-बाहर ईश्वर की अनुभूति करना पृथ्वी पर मानव के लिए संभाव्य अत्यधिक न्यायसंगत उद्देश्य है।"

(वही, पृ. 4)

परन्तु ईश्वर की अन्दर तथा बाहर अनुभूति तभी संभव है जब हम जड़ पदार्थ और आत्मा की पहचान कर लें। यह पहचान जड़ पदार्थ के अन्तस्तल में आत्मा की तथा आत्मा के परिवर्तनीय वस्त्र के रूप में पदार्थ की होनी चाहिए। चूँकि जड़ पदार्थ और आत्मा के बीच में कई स्तर हैं अतः मानव-मन मध्यवर्ती स्तरों की पहचान किये बिना दोनों के बारे में भली प्रकार नहीं जान सकता है। यदि हम भूतकाल में मानव-मन द्वारा दीर्घकाल तक किये गये विश्लेषण को देखें तो हमें दो प्रकार के विश्लेषण मिलते हैं। एक विश्लेषण भौतिकवादियों का है जो यह मानते हैं कि आत्मा, चेतना आदि मन के भ्रम हैं, काल्पनिक हैं। दूसरा विश्लेषण अध्यात्मवादियों का है जो यह मानते हैं कि आत्मा ही वास्तविक सत्ता है, जड़ पदार्थ के स्वरूप तो दृश्य एवं अदृश्य होते रहते हैं किन्तु आत्मा सनातन है। इस प्रकार ये दोनों विश्लेषण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु ये दोनों विश्लेषण एक दूसरे के पूरक हैं। भौतिकवादी यह कहते हैं कि जो कुछ भी शारीरिक अंगों द्वारा देखा या अनुभव किया जाता है, वही सत्य है अन्य सब असत्य है। किन्तु अपने उन्नत शोध में भौतिक विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि भौतिक अनुभव के परे भी कोई चीज है, एक 'x' है जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, जो अज्ञेय है। परन्तु यह सदैव अज्ञेय नहीं रहेगा। इसे विचार के द्वारा भले न जाना जा सके किन्तु इसे "चेतना के सर्वोत्तम प्रयास" (दॅ मॅटिअरिऑल डिनाइ ल, पृ. 12) से जाना जा सकता है।

जब हमारी मानसिक शक्ति शिथिल हो जाती है, तब भी हमारी चेतना दृढ़ बनी रहती है और भौतिक अनुभवों के परे वास्तविकता को पहचानती है। यदि चीजें अभी तक अज्ञेय बनी हुई हैं या नहीं जानी जा सकी हैं तो इसका कारण यह है कि हम ऐसी शक्ति नहीं विकसित कर सके हैं जो अज्ञात के रहस्य का भेदन कर सके। श्री अरविन्द हमारी सहायता इन शब्दों में करते हैं:

"परन्तु सिद्धान्ततः समस्त ज्ञान मानव की क्षमता के भीतर का ज्ञान है... जब हमने पदार्थ का परीक्षण कर लिया है और इसकी गुह्य क्षमता का अनुभव कर लिया है, तो अल्पकालिक सीमाबंधन में सुविधापूर्वक पड़ा हुआ वह ज्ञान वैदिक ऋषियों की भाँति घोषणा करेगा- आगे बढ़ो और अन्य क्षेत्रों में जाने का उद्यम करो।"

(वही, पृ. 13)

...उच्चतर विज्ञान के क्षेत्र में किये जा रहे परीक्षण ऊर्जा की ठोस पदार्थ पर निर्भरता को कम कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, बिना तार के संचार और मोबाइल फोन ने तार की आवश्यकता को लगभग समाप्त कर

दिया है और यह पूरी तरह संभव है कि उच्चतर विज्ञान के शोध एक दिन भौतिक उपकरणों पर मन की निर्भरता शून्य स्तर तक कर दें। उस स्थिति में मन बिना किसी भौतिक माध्यम के अपने विचारों को संप्रेषित करने में समर्थ हो जायेगा। आत्मा की अपनी अस्वीकार्यता के बावजूद भौतिकवादियों ने सत्य एवं असत्य का विभेद करने वाली तर्कशक्ति से मानव मन को सन्नद्ध करके मानवता की महान सेवा की है। इस प्रकार, समय-समय पर मौलिक आध्यात्मिक प्रत्यक्ष ज्ञान को ढकने वाले झूठे विश्वासों तथा अन्धविश्वासों को तर्कशक्ति के द्वारा किनारे कर दिया गया और आध्यात्मिक परीक्षण के लिए स्पष्ट मार्ग का निर्देशन किया गया। अध्यात्मवादी व्यक्ति चेतना में निवास करता है और संसार को चेतना का ही व्यक्त रूप मानता है। परन्तु उसकी दृष्टि में संसार का एक स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है जैसा कि भौतिकवादी के लिए है। श्री अरविन्द हमें बताते हैं-

"संसार यथार्थतः वास्तविक है क्योंकि यह मात्र चेतना में अवस्थित है, क्योंकि अन्तरिक्षीय ऊर्जा मूल तत्त्व के साथ एकाकार होकर इसकी रचना करती है।" (द रिफ्यूज ऑफ दि औसेटिक, पृ. 22)

...जब तक यह (साधक) वैयक्तिक चेतना और ब्रह्माण्डीय चेतना दोनों के सम्पर्क में रहता है, तब तक सब ठीक रहता है किन्तु जैसे ही अनुभवातीत के परे जाता है और पूर्ण आत्मा की झलक प्राप्त करता है, "जो उपनिषदों में तेजस्वी, पवित्र, संसार को धारण करने वाली किन्तु स्वयं उसमें निष्क्रिय, शक्तिरहित, द्वित्वरहित, विभाजन के धब्बे से रहित, अद्वितीय, समरूप, बहुलता एवं सम्बन्ध के सारे आभासों से मुक्त बताया गया है... (तब वह) अव्यक्त की एकमात्र सत्ता तथा संसार की अवास्तविकता का अनुभव करता है।" (वही, पृ. 22-23)*

यहीं से आत्मा का जड़ पदार्थ के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ होता है। बौद्धों द्वारा इस विद्रोह का भरपूर समर्थन किया गया है जो यह मानते हैं कि यह संसार दुःख एवं वेदना से भरा हुआ है और जीवन का एकमात्र उद्देश्य पुनर्जन्म नहीं है बल्कि पुनर्जन्म से मुक्त होना है। इस परित्याग के विचार ने दो हजार वर्षों से अधिक समय तक भारतीय मन पर अधिकार जमा रखा है। सभी मतों के अनुसार इस द्वित्व के संसार में ब्रह्मलोक या स्वर्ग का अस्तित्व असंभव है। अतः ब्रह्मानन्द के लिए संसार त्याज्य है।

इस प्रकार हम दो प्रकार की अस्वीकृति पाते हैं- भौतिकवादी की ब्रह्माण्डीय चेतना की अस्वीकृति और भौतिक पदार्थों में एकान्तिक तन्मयता तथा अध्यात्मवादी द्वारा परिवर्तनशील एवं क्षरणशील संसार की अस्वीकृति। ये दोनों विचार अतिवादी हैं यद्यपि दोनों विचारों ने अपने-अपने तरीके से मानव-मन को पूर्ण बनाने में योगदान किया है। ...समग्रवादी (integral) जिज्ञासु साधक का कर्त्तव्य है कि वह जड़ पदार्थ और आत्मा दोनों का समर्थन करे ताकि दोनों अतिवादी विचारों में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए उचित समाधान प्राप्त किया जा सके। श्री अरविन्द कहते हैं-

"भारतीय तापसिक (ascetic) आदर्श के महान् वैदिक सूत्र 'एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति' को दूसरे सूत्र 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' के आलोक में प्रचुरता से नहीं पढ़ा गया है।" (वही, पृ 24)

इस प्रकार पदार्थ और आत्मा दोनों की स्वीकार्यता आध्यात्मिक जिज्ञासु को यह जानने के लिए आगे ले जा सकती है कि आत्मा एवं पदार्थ एक ही सर्वव्यापी सत्ता के दो पहलू हैं। ...

"मैंने एक ऐसे तत्त्व की उपस्थिति की अनुभूति की है जो मुझे उदात्त विचारों के आनन्द से भर देती है। यह एक ऐसी उदात्त अनुभूति है जो सभी चीजों के अंतस्तल में है। इसकी उपस्थिति डूब रहे सूरज के प्रकाश में, वृत्ताकार समुद्र में, जीवनदायिनी वायु में, नीले आकाश में तथा मानव-मन में है। यह एक ऐसी गतिशक्ति और भावना है जो समस्त विचार प्रधान वस्तुओं और वैचारिक विषयों को प्रेरित करती है और सभी चीजों के भीतर प्रवहमान है।" (टिन्टर्न ऐबि)

विलियम वर्ड्सवर्थ की ये पक्तियाँ सबमें व्याप्त उस आत्मिक सत्ता का वर्णन करती हैं जिसे पूर्व में ब्रह्म तथा पश्चिम में परम तत्त्व कहा जाता है। श्री अरविन्द इसे सत्ता कहते हैं जो सर्वव्यापक है। पदार्थ और आत्मा इसी सत्ता में अपनी वैयक्तिक पहचान खो देते हैं और एकाकार हो जाते हैं।...

"हम एकत्व के ज्ञान अर्थात विद्या के द्वारा ईश्वर को जानते हैं, इसके अभाव में सापेक्ष एवं बहुविध चेतना की अविद्या की अव्यवस्था एवं अंधार की रात्री है। फिर भी यदि हम अज्ञान के क्षेत्र को अलग कर दें, यदि हम अविद्या से यह मानकर अलग हो जाएँ कि यह अवास्तविक और अस्तित्वहीन है, तब वह ज्ञान अस्पष्ट हो जाता है और अपूर्णता का स्रोत बन जाता है। हमारी स्थिति उस व्यक्ति की सी हो जाती है जो प्रकाश से चौंधिया जाने के कारण प्रकाशित क्षेत्र को नहीं देख पाता है।"

(द डेस्टिनि ऑवृ द इन्डिविड्युअल, पृ. 34)

अतएव हमें विद्या और अविद्या दोनों को जानना है, किसी को भी छोड़ना नहीं है। ...श्रीअरविन्द का विचार है: "जीवन में ईश्वर का साक्षात् करना मानव का पुरुषार्थ है। वह पाशविक जीवन-शक्ति और इसके क्रियाकलापों से जीवन प्रारम्भ करता है किन्तु इसका लक्ष्य दैवीय अस्तित्व को प्राप्त करना है।"

(वही, पृ. 36)

यह स्मरणीय है कि यह आत्मानुभूति या देवीय अनुभूति क्रमिक ज्ञान है। भौतिक से मानसिक और मानसिक से आध्यात्मिक विकास के क्रम में यदि हम नवीन उपलब्धि की उत्सुकता में निम्नतर क्रमविकास के स्तर का तिरस्कार कर देते हैं, तब हम जीवन में ईश्वर को समग्रता में नहीं उतार पायेंगे। इस प्रकार हम पूर्ण नहीं बन सकते बल्कि हमारी अपूर्णता एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में स्थानान्तरित हो जाती है। श्री अरविन्द निम्नलिखित शब्दों में हमें सावधान करते हैं:-

"हम चाहे जितनी प्रगति कर लें, यहाँ तक कि यह प्रगति निर्विकार के स्तर तक की भी क्यों न हो, हमारी प्रगति सही दिशा में नहीं होगी, यदि हम अपनी आधार भूमि को भूल जाते हैं अतः निम्नतर क्षेत्र को छोड़ना नहीं है बल्कि प्राप्त प्रकाश से इसे रूपान्तरित करना है। यही प्रकृति का वास्तविक देवत्व है।"

(वही, पृ. 36)

... मनुष्य अपने को ब्रह्माण्ड से अलग समझता है जबकि वह इसका ही एक भाग है। वह इस ब्रह्माण्ड को अपनी सामान्य ज्ञानेन्द्रियों से देखता है। ये ज्ञानेन्द्रियां सामान्यतया उन्हीं चीजों पर बल देती हैं जो सतह पर होती हैं। हालांकि मानव के पास उच्चतर चेतना की शक्ति होती है जिसके बल पर संसार एक अलग प्रकार से देखा जा सकता है किन्तु वह इसे नहीं देख पाता क्योंकि वह अपने अहंभाव से बंधा रहता है। श्री अरविन्द इस जटिल तथ्य को समझने के लिए एक अच्छा उदाहरण देते हैं। इसके अनुसार हमारी भौतिक ज्ञानेन्द्रियों को सूरज पृथ्वी के चारों ओर घूमता दिखाई देता है, किन्तु यह त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया जा चुका है। सत्य यह है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर काटती है। यह जानते हुए भी हम बलपूर्वक कहते हैं कि सूर्य का उदय एवं अस्त होता है। यदि विज्ञान ने यह सिद्ध न किया होता कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है तो यह सत्य मानव-मन के तर्क से स्वीकार न किया गया होता। इसी प्रकार यह भी संकल्पना है कि ईश्वर व्यक्ति के अहंभाव के चारों ओर घूमता है और उसके (ईश्वर के) समस्त कार्य व तरीके हमारी अमिश्रित अनुभूतियों के द्वारा समझे जाते हैं। जब कि सत्य यह है कि ईश्वर जीवन के केन्द्र में है और व्यक्ति के समस्त क्रियाकलाप सार्वभौमिक एवं लोकातीत परिप्रेक्ष्य में समझे जाने चाहिए। इसीलिए महान आध्यात्मिक गुरु श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

"सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि तुम इस प्रकार निश्चित रूप से मेरे पास आओगे क्योंकि तुम मेरे परम प्रिय हो।"

(श्रीमदभगवतगीता 18/65)

अतएव विचार, पूजा, त्याग और श्रद्धा सब ईश्वर के प्रति समर्पित होनी चाहिए। ईश्वर अपनी प्रकृति, दया एवं प्रेम उन लोगों के सम्मुख उद्घाटित करता है जो उसे खोजते हैं। ...

हमारे बाह्य भौतिक बोध केवल बाह्य आकारों एवं गतिविधियों को ही जानने में सक्षम हैं। जब हमारा अन्तर्मन प्रस्फुटित होता है तब हम उसकी एक झलक पाते हैं जो न तो बदलता है, न गतिमान होता है और न ही निश्चित आकार वाला होता है। क्षण भर के लिए भी यदि यह अनुभव प्राप्त हो जाता है तो हमारी चेतना पर शाश्वत प्रभाव रहता है। यह अन्तर्ज्ञान यह प्रमाणित करता है कि वैयक्तिक आत्मा और निर्विकार आत्मा एक ही है। प्राचीन भारत के महान् ऋषियों ने अपने अन्तर्ज्ञान के द्वारा दोनों प्रकार की आत्मा के एकत्व की झलक प्राप्त की है। इसके पश्चात् उन्होंने जो उद्घोषणा की है, उन्हें महावाक्य कहा जाता है। श्री

अरविन्द निम्न शब्दों में इसकी पुष्टि करते हैं:-

"प्राचीन वेदान्त ने अन्तर्ज्ञान के इस संदेश को ग्रहण करके उन्हें उपनिषदों की तीन महान् उद्घोषणाओं के रूप में सूत्रबद्ध किया है- 'मैं वही हूँ', 'श्वेतकेतु तुम वही हो', 'यह सब ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है ।'

(दॅ मेथड्स ऑव वेदान्तिक नॉलिज, पृ. 67)

"हे परमेश्वर ! हम आपको ही उच्च समझें। हमारे लिए स्थिर दिव्य कर्मों व गुणों का आप विस्तार करें। संसार सागर में गतिशील हम भोगयुक्त प्राणियों को आप भोगमुक्त करें। हमारे काम क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट करें और हमसे दूर करें। हम सदैव देवत्व की प्राप्ति के लिए तत्पर रहें।"

(तैत्तिरीयोपनिषद् II.7, III-6)

...हमारी चेतना मस्तिष्क के माध्यम के बिना भी तरीके से कार्य कर सकती है। श्री अरविन्द का कथन है:-

"हम जानते हैं कि हमारे भीतर कोई चीज है जो निद्रावस्था में चेतनशील रहती है। जब भी हम बेहोश होते हैं या नशे में होते हैं, या मंत्रमुग्ध होते हैं, तब इन सभी बाह्य अचेतन स्थिति में क्रियाशील रहती है।"
(कॉन्शसनेस फोर्स, पृ. 85) *

"ब्रह्मांड का उच्चतम सिद्धान्त और प्रवृत्ति मन नहीं है; उच्चतम सिद्धांत "सत्" है जो आनंद में चित् के माध्यम से काम कर रहा है, अनंत अस्तित्व अनंत आनंद में अनंत बल के माध्यम से काम करते हैं।"

-श्रीअरविन्द

1. जुलाई 4 को तारा दीदी अमिताभ कांट जी से मिले थे।

2. बुधवार, 5 जुलाई 2023 - तारा दी का जन्मदिन-

सुबह 8:30 बजे से आश्रम प्रांगण से आरंभ करते हुए क्रमश: 9:30 बजे- मदर स्कूल तत्पश्चात
10:00 बजे- मिराम्बिका विद्यालय में वृक्षारोपण किया गया।
12:00 - दोपहर का भोजन
4:30 अपराह्न – चाय के बाद शाम 5:00 बजे से 6:00 बजे तक आशीर्वाद ब्लॅक में वृक्षारोपण किया गया।
शाम 6.45 से 7.30 -ध्यान कक्ष में तारा दीदी द्वारा विशेष वाचन एवं भक्ति संगीत तत्पश्चात रात्रि भोजन
(7.30) के बाद सभी आश्रम वासियों को तारा दीदी के जीवन पर फिल्म दिखाई गई।

3. 19 जुलाई डॉक्टर लवलीन बिजलानी (आश्रमाइट) का 75 वां जन्मदिन था। उस दिन उन्हें याद करते हुए ध्यान-कक्ष में विशेष भजन-संध्या का आयोजन किया गया। इसी कार्यक्रम के अंतर्गत बाल-साहित्य की जानी-मानी लेखिका अनुपा लाल जी के द्वारा "द एंड ऑफ इविल" पुस्तक का विमोचन किया गया। पुस्तक की लेखिका 'अनाया' ने अपनी यह कृति अपनी नानी डॉक्टर लवलीन बिजलानी जी को समर्पित की थी।

4. **25 जुलाई सी 9 ऑगस्त- योगाभ्यास की कक्षा आयोजित की गईं।**

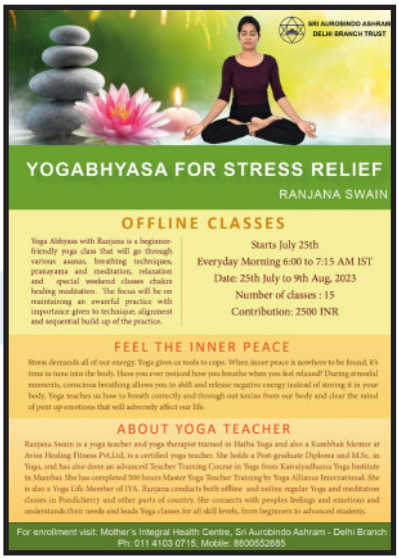

5. 13 अगस्त 2023 - श्री सुरेंद्र नाथ जौहर की 120वीं जयंती।

श्रीअरविंद आश्रम – दिल्ली शाखा के संस्थापक श्री सुरेंद्र नाथ जौहर, जिन्हें प्यार से चाचाजी के नाम से जाना जाता है, को याद करके हमारा दिल श्रद्धा और प्रेरणा से भर उठा।दिन की शुरुआत श्रीला दी के भावपूर्ण आह्वान के साथ हुई, जिसके बाद चाचाजी की समाधि पर हवन किया गया और पुष्पांजली दी गई। डॉ. अपर्णा रॉय ने अपनी विनोदी और ज्ञानवर्धक वार्ता के माध्यम से चाचाजी के जीवन की एक खूबसूरत तस्वीर पेश की, जिससे हम सभी को उनकी जीवन यात्रा की एक झलक मिली। जिनसे सभी को प्रेरणा मिली।हमारे व्यावसायिक प्रशिक्षुओं द्वारा एक अद्भुत कला प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। अपनी रचनात्मकता और उत्साह से उन्होंने सभी को मंत्रमुग्ध कर दिया। शाम को व्यावसायिक प्रशिक्षुओं और आश्रमवासियों के द्वारा कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। संगीत, नाटक, मानव पिरामिड और शारीरिक शक्ति के प्रदर्शन ने हमें मंत्रमुग्ध और आश्चर्यचकित कर दिया। दिन का समापन तारा दी द्वारा चाचाजी की पुस्तक- वचन से हुआ, जिससे चाचाजी के जीवन के बारे में हमारी समझ में गहराई आई। लिन्थोई द्वारा उन्हें संगीतमय श्रद्धांजलि दी गई।

आइए हम चाचाजी की प्रेम, ज्ञान और समर्पण की भावना के साथ आगे बढ़ें।

6. 14 अगस्त को श्री अरविंद आश्रम दिल्ली शाखा के प्रांगण में हॉल का एस्पिरेशन के मंच पर श्री अरविंद के जीवन की करवा यात्रा का भावपूर्ण मंचन दिखाने के लिए रंगभूमि थिएटर के द्वारा निर्जन करवा नमक नाटक दिखाया गया यह नाटक भीलवाड़ा ग्रुप के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री एलन झुनझुनवाला के सौजन्य से उनके अनुज श्री अलेक्स झुनझुनवाला की स्मृति में आयोजित किया गया था |

7. **15 अगस्त 2023, श्री अरविंद की 151 वीं जयंती -**

15 अगस्त श्रीअरविन्द आश्रम विशेष महत्व का दिन है। दिन का प्रारम्भ आश्रमवासियों की प्रभात फेरी से हुआ। तत्पश्चात ध्यान-कक्ष में श्रीला दीदी द्वारा संगीतमय आह्वान किया गया।

सुबह 9 बजे आश्रम प्रांगण में राष्ट्र-गीत 'वंदेमातरम' की गुंजार के साथ तारा दीदी ने तिरंगा फहराया।

ध्यान-कक्ष में डॉ. रमेश बिजलानी जी ने श्रीअरविंद के जीवन से कुछ प्रेरणादायक और मजेदार उपाख्यानों को सुनाया, और मिथू पाल ने भाव पूर्ण संगीत पेश किया।

दो प्रदर्शनियां भी लगाई गईं थीं "सारा जीवन ही योग है(All life is yoga)" में आश्रम के कलाकारों ने अपनी चित्रकला के नमूने प्रदर्शित किए और "श्री अरविंद का अनोखा जीवन(The remarkable life of Sri Aurobindo)" में श्रीअरविंद के जीवन की झलकियाँ दिखाई गईं।

शाम 6 बजे, आश्रम के सदस्यों ने देशभक्ति-गीतों की प्रस्तुति के साथ-साथ समाधिस्थल के चारों ओर मार्च पास्ट करते हुए श्रीमाँ को सलामी दी तत्पश्चात शाम का ध्यान "भवानी भारती" के साथ शुरू किया गया तथा सामुहिक गीतों के बाद समारोह का समापन समाधि प्रांगण में अभीप्सा के दीप-प्रज्जवलन द्वारा हुआ। आश्रम भोजन-कक्ष में बाहर से आए सभी भक्त-जनों ने प्रसाद ग्रहण किया।

8. अगस्त 25 -26 एवं 27 को हॉल ऑफ ग्रेस में मातृ कला मंदिर का तीन दिवसीय वार्षिकोत्सव संपन्न हुआ, जिसमें विद्यालय के बच्चों द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया।